ॐ श्रीपरमात्मने नमः

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, अगस्त १९७७

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेदा येन समुद्धृता वसुमती पृष्ठे धृताप्युद्धृता दैत्येशो नखरैर्हतः फणिपतेर्लोकं बलिः प्रापितः ।
क्ष्माऽक्षत्रा जगती दशास्यरहिता माता कृता रोहिणी हिंसा दोषवती धराप्ययवना पायात् स नारायणः ॥

वर्ष ५१ | गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, अगस्त १९७७ | संख्या ८
पूर्ण संख्या ६०९

भगवान् श्रीरामकी वन्दना

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं
सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं
नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥
(श्रीरामचरितमानस २ । ३)

जिनके नीले कमलके समान श्याम और कोमल अङ्ग हैं, जिनके वामभागमें श्रीसीताजी विराजमान हैं और जिनके हाथोंमें (क्रमशः) अमोघ बाण और सुन्दर धनुष हैं, उन रघुवंशके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ ।
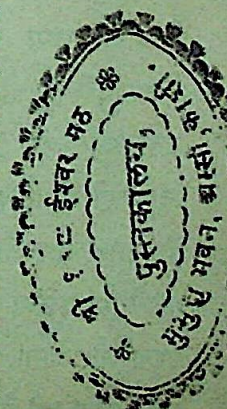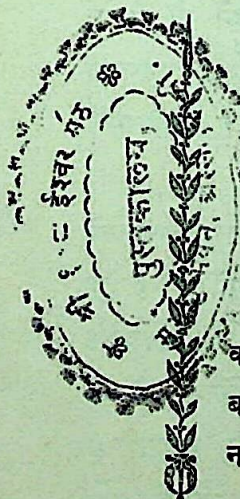
कल्याण

माया कैसी मोहिनी है ! बुद्धिमान् पुरुष भी मोह-रूप कर्तव्यके मोहमें पड़कर अपने असली कर्तव्यको भूल रहे हैं। सोचो तो सही ! तुम कौन हो और तुम्हारा कर्तव्य क्या है ? मोहसे छूटना कर्तव्य है या मोहकी गाँठोंको और भी उलझाना ? जिस नाम और रूपके चक्करमें फँसे हुए तुम उस नाम-रूपके कल्पित सम्बन्धसे अपनेको सम्बद्ध मानकर कर्तव्य-बोधसे उस मोहको और भी घना बना रहे हो, वह नाम-रूप वस्तुतः क्या तुम्हारा स्वरूप है ? माके पेटमें आनेसे पहले क्या तुम्हारा यही नाम-रूप था ? यदि 'नहीं' तो इससे कैसा सम्बन्ध और कैसा कर्तव्य ? खोल दो न अपने ही हाथों दी हुई इस गाँठको। क्यों 'नलिनी-के सुअटा' बने बँध रहे हो ?

'क्या करें, यहाँ ऐसी ही योग्यता है, ऐसा किये बिना आदर्श बिगड़ता है, लोग क्या कहेंगे ?' मन-ही-मन ऐसी कल्पना-जल्पना करके क्यों अपनेको जकड़ते जा रहे हो ? कैसी योग्यता ? कैसा आदर्श ? मायाके चक्करमें फँसे रहना ही क्या तुम्हारे लिये योग्य है ? अज्ञानके बन्धनसे जकड़ना ही क्या आदर्श है ? लोग निन्दा करेंगे ? किसकी ? तुम्हारी या तुमने जिनको अपने साथ तादात्म्य कर लिया है, उन नाम और रूपकी ? अरे ! उनकी निन्दासे तुम्हारा क्या बिगड़ता है ? होने दो उनकी निन्दा, बिगड़ने दो उनकी इज्जत, नष्ट हो जाने दो उनके अस्तित्वको ! तुम क्यों उन्हें बचानेकी फिक्रमें निर्बल हो रहे हो ? उन्हींके कारण तो तुम्हारी यह दुर्दशा है। नित्य सत्य और अज-अविनाशी होनेपर भी उन्हींके मोहमें तुम अनित्य-से—असत्-से हो रहे हो और उन्हींकी ममता और आसक्ति तुम्हें जन्म और मृत्युके संतापभरे सपने दिखा रही है।

'घरवालोंको क्लेश होगा, पुत्र-बन्धु आदि कष्ट पायँगे।' मान लो, तुम्हारा यह पञ्चभूतोंका चोला आज छूट गया होता तो इनकी क्या स्थिति होती ? तब ये जिंदा रहते या नहीं ? यदि रहते तो अब भी रहेंगे। तुम क्यों नहीं अपनेको मर गया मान लेते ? सचमुच जरा मरके देखो तो सही, कुछ ही दिनोंमें तुम्हारी सारी याद किस आसानीसे भुला दी जाती है। तुम्हारी आवश्यकता कैसे अनावश्यक हो जाती है। सचमुच तुमको किसीने नहीं पकड़ रक्खा है, तुमने आप ही अपनेको पकड़ा हुआ मान लिया है। तोड़ डालो न इस भ्रमके बन्धनको !

'क्या करें, जिम्मेवारी निवाहना भी मनुष्यका धर्म है। इम सब समझते हुए जिम्मेवारीका त्याग कैसे कर दें ?' बड़े जिम्मेवार बन रहे हो ! और बात तो जाने दो, शरीरकी जिम्मेवारी तो निबाहो। तुम्हारी जिम्मेवारीका निर्वाह तभी समझा जायगा, जब तुम इसे बीमारी या मौतके मुँहसे बचा सकोगे। जब तुम शरीरकी जिम्मेवारी भी नहीं निवाह सकते तब और जिम्मेवारीकी तो बात ही कौन-सी है ? बिना ही बनाये पञ्च बनकर जिम्मेवार बन बैठे हो। मोहने ही प्रेमका स्वाँग भरकर तुम्हारे ऊपर जिम्मेवारी और कर्तव्यका बोझ लाद रक्खा है। उतारकर फेंक दो न जिम्मेवारीके इस बोझको। तुरंत हल्के हो जाओगे !

देखो तो तुम्हारे नित्य निरामय आनन्दघन-स्वरूपमें विषाद, मृत्यु और दुःखको स्थान ही कहाँ है ? तुम अमृतोंके अमृत, आनन्दके आनन्द और प्रकाशोंके प्रकाश हो। तुम्हारी ही चाँदनी सर्वत्र छिटक रही है, तुम्हारा ही प्रकाश सर्वत्र फैल रहा है, तुम्हारा ही ऐश्वर्य सर्वत्र व्याप्त है, तुम्हारा ही आनन्द सर्वत्र

विस्तृत है, तुम्हारी ही सुधा-माधुरीसे सब जीवन धारण कर रहे हैं। तुम अखण्ड हो, अनन्त हो, अजर हो, अमर हो, सत् हो, सनातन हो, चेतन हो, ज्ञानस्वरूप हो। अपने स्वरूपको क्यों नहीं सँभालते ? क्यों अपनी ही भूलभरी भूलसे भूल-भुलैयामें पड़े भटक-से रहे हो ?

संसारका कर्तव्य कभी पूरा नहीं होगा। यहाँकी सफलता भी असफलता है। वह अनन्त सुख—जो तुम्हारा स्वरूप है—तुम्हें अपने अंदर ही प्राप्त होगा। वह धनसे, भोगोंसे, विजयसे, कीर्तिसे, नीतिसे, धर्मसे—किसीसे भी किसीमें भी नहीं मिलेगा। फिर तुम क्यों कर्तव्यका बोझा लादे, योग्यता और अयोग्यताका आडम्बर लिये जिम्मेवारीका भार उठाये उन्मत्तकी भाँति इधर-उधर धक्के खा रहे हो ?

वह नित्यस्वरूप आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न किसी अन्य कारणसे उत्पन्न हुआ है, न आप ही कुछ बना है। वह तो अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी वह नहीं मरता। किसीके नाशसे उसका नाश नहीं होता। वह अणु-से-अणु और महान्-से-महान् है। वह तुम्हारे अंदर है, तुम्हारा अपना स्वरूप है। तुम उसको पहचानो, उसकी महिमाको जानो—तुम्हारा सारा शोक, विषाद, भ्रम मिट जायगा।

—श्रीभाईजी

प्रार्थना

प्रभो ! कृपा कर मुझे बना लो अपने नित्य दासका दास।
सेवामें संलग्न रहूँ उल्लसित नित्य, मन हो न उदास॥
चिन्तन हो न कभी भोगोंका, नहीं विषयमें हो आसक्ति।
बढ़ती रहे सदा मेरे मन, पावन प्रभुचरणोंकी भक्ति॥
कभी न निन्दा करूँ किसीकी, कभी नहीं देखूँ पर-दोष।
बोलूँ सदा सुधामयि वाणी, कभी न आये मनमें रोष॥
कभी नहीं आये प्रभुता-मद, कभी न हो तिलभर अभिमान।
समझूँ निजको नीच तृणादपि, रहूँ विनम्र, नित्य निर्मान॥
कभी न दूँ मैं दुःख किसीको, कभी न भूल करूँ अपमान।
कभी न परहित-हानि करूँ मैं, करूँ सदा सुख-हितका दान॥
कभी न रोऊँ निज दुखमें मैं, सुखकी करूँ नहीं कुछ चाह।
सदा रहूँ संतुष्ट, सदा पद-रति-रत विचरूँ बेपरवाह॥
प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिमें हो कभी न मेरा राग-द्वेष।
रहे न किंचित् कभी हृदयमें जग-आशा-ममताका लेश॥
मस्त रहूँ मैं हर हालतमें, करूँ सदा लीलाकी बात।
देखूँ सदा सभीमें तुमको, सदा रहे जीवन अवदात॥

—श्रीभाईजी

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

अनन्य प्रेम ही भक्ति है

अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिये किसी भी युगमें भगवद्भक्तिके सदृश अन्य कोई भी सुगम उपाय नहीं है। कलियुगमें तो है ही नहीं। यह बात सबसे पहले समझनेकी है कि भक्ति किसे कहते हैं? भक्ति कहनेमें जितनी सहज है, करनेमें उतनी ही कठिन है। केवल बाह्याडम्बरका नाम भक्ति नहीं है। भक्ति दिखानेकी चीज नहीं, वह तो हृदयका परम गुप्त धन है। भक्तिका स्वरूप जितना गुप्त रहता है, उतना ही वह अधिक मूल्यवान् समझा जाता है। भक्तितत्त्वका समझना बड़ा कठिन है। अवश्य ही उन भाग्यवानोंको इसके समझनेमें बहुत आयास या श्रम नहीं करना पड़ता, जो उस दयामय परमेश्वरकी शरण हो जाते हैं। अनन्य शरणागत भक्तको भक्तिका तत्त्व परमेश्वर स्वयं समझा देते हैं। जो एक बार भी सच्चे हृदयसे भगवान्की शरण हो जाता है, भगवान् उसे अभय कर देते हैं, यह उनका व्रत है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वाल्मी० रा० ६। १८। ३३)

भगवान्की शरणागति एक बड़े ही महत्त्वका साधन है, परंतु उसमें अनन्यता होनी चाहिये। पूर्ण अनन्यता होनेपर भगवान्की ओरसे तुरंत ही इच्छित उत्तर मिलता है। विभीषण अत्यन्त आतुर होकर एकमात्र श्रीरामके आश्रयमें ही अपनी रक्षा समझकर श्रीरामकी शरण आता है। भगवान् राम उसे उसी क्षण अपना लेते हैं। कौरवोंकी राजसभामें सब ओरसे निराश होकर देवी द्रौपदी ज्यों ही अशरण-शरण श्रीकृष्णको स्मरण करती है, त्यों ही चीर अनन्त हो जाता है। अनन्य शरणके ये ही उदाहरण हैं। यह शरणागति तो सांसारिक कष्ट-निवृत्तिके लिये थी। इसी भावसे भक्तोंको भगवान्के लिये ही भगवान्के शरणागत होना चाहिये। फिर तत्त्वकी उपलब्धि होनेमें विलम्ब नहीं होगा।

यद्यपि इस प्रकार भक्तिका परम तत्त्व भगवान्की शरण होनेसे ही जाना जा सकता है तथापि शास्त्र और संत-महात्माओंकी उक्तियोंके आधारपर अपना अधिकार न समझते हुए भी अपने चित्तकी प्रसन्नताके लिये मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, इसके लिये भक्तिहृदय पाठक-जन मुझे क्षमा करेंगे।

परमात्मामें परम अनन्य विशुद्ध प्रेमका होना ही भक्ति कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक जगह इसका विवेचन है, जैसे—

'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।'
(१३। १०)

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।'
(१४। २६)

—आदि। इसी प्रकारका भाव नारद और शाण्डिल्य-सूत्रोंमें पाया जाता है। अनन्य प्रेमका साधारण स्वरूप यह है—एक भगवान्के सिवा अन्य किसीमें किसी समय भी आसक्ति न हो, प्रेमकी मग्नतामें भगवान्के सिवा अन्य किसीका ज्ञान ही न रहे। जहाँ-जहाँ मन जाय, वहीं भगवान् दृष्टिगोचर हों। यों होते-होते अभ्यास बढ़ जानेपर अपने-आपकी विस्मृति होकर केवल एक भगवान् ही रह जायँ—यही विशुद्ध अनन्य प्रेम है। परमेश्वरमें प्रेम करनेका हेतु केवल परमेश्वर या उनका प्रेम ही है—प्रेमके लिये ही प्रेम किया जाय, अन्य कोई हेतु न रहे। मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा और इस लोक तथा परलोकके किसी भी पदार्थकी इच्छाकी गन्ध भी साधकके मनमें न रहे, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी उसका मन कभी न ललचे। स्वयं भगवान् प्रसन्न

होकर भोग्य-पदार्थ प्रदान करनेके लिये आग्रह करें तो भी न ले। इस बातके लिये यदि भगवान् रूठ जायँ तो भी परवा न करे। अपने स्वार्थकी बातें सुनते ही उसे अतिशय वैराग्य और उपरामता हो। भगवान्की ओरसे सांसारिक विषयोंका प्रलोभन मिलनेपर मनमें पश्चात्ताप होकर यह भाव उदय हो कि 'अवश्य ही मेरे प्रेममें कोई दोष है, मेरे मनमें सच्चा विशुद्ध भाव होता और इन स्वार्थकी बातोंको सुनकर यथार्थमें मुझे क्लेश होता तो भगवान् इनके लिये मुझे कभी न ललचाते।' विनय, अनुरोध और भय दिखलानेपर भी परमात्माके प्रेमके सिवा किसी भी हालतमें दूसरी वस्तु स्वीकार न करे, अपने प्रेम-हठपर अटल-अचल रहे। वह यही समझता रहे कि भगवान् जबतक मुझे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर ललचा रहे हैं और मेरी परीक्षा ले रहे हैं, तबतक मुझमें अवश्य ही विषयासक्ति है। सच्चा प्रेम होता तो एक अपने प्रेमास्पदको छोड़कर दूसरी बात भी मैं न सुन सकता। विषयोंको देख, सुन और सहन कर रहा हूँ। इससे यह सिद्ध है कि मैं सच्चे प्रेमका अधिकारी नहीं हूँ, तभी तो भगवान् मुझे लोभ दिखा रहे हैं। उत्तम तो यह होता कि मैं विषयोंकी चर्चा सुनते ही मूर्छित होकर गिर पड़ता। ऐसी अवस्था नहीं होती, इसलिये निःसन्देह मेरे हृदयमें कहीं-न-कहीं विषयवासना अवश्य छिपी हुई है। यह है विशुद्ध प्रेमके ऊँचे साधनका स्वरूप।

ऐसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द होता है, उसकी महिमा अकथनीय है। ऐसे प्रेमका वास्तविक महत्त्व कोई परमात्माका अनन्य प्रेमी ही जानता है। प्रेमकी साधारणतः तीन संज्ञाएँ हैं—गौण, मुख्य और अनन्य। जैसे नन्हे बछड़ेको छोड़कर गौ वनमें चरने जाती है, वहाँ घास चरती है, उस गौका प्रेम घासमें गौण है, बछड़ेमें मुख्य है और अपने जीवनमें अनन्य है। बछड़ेके लिये घासका एवं जीवनके लिये वह बछड़ेका भी त्याग कर सकती है। इसी प्रकार उत्तम साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी अनन्य-भावसे परमात्माका चिन्तन किया करते हैं। साधारण भगवत्प्रेमी साधक अपना मन परमात्मामें लगानेकी कोशिश करते हैं, परंतु अभ्यास और आसक्तिवश भजन-ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोंमें चला ही जाता है। जिनका भगवान्में मुख्य प्रेम है, वे हर समय भगवान्को स्मरण रखते हुए समस्त कार्य करते हैं और जिनका भगवान्में अनन्य प्रेम हो जाता है, उनको तो समस्त चराचर विश्व एक वासुदेवमय ही प्रतीत होने लगता है। ऐसे महात्मा बड़े दुर्लभ हैं। (गीता ७। १९)

इस प्रकारके अनन्य प्रेमी भक्तोंमें कई तो प्रेममें इतने गहरे डूब जाते हैं कि वे लोकदृष्टिमें पागल-से दीख पड़ते हैं। किसी-किसीकी बालकवत् चेष्टा दिखायी देती है। उनके सांसारिक कार्य छूट जाते हैं। कई ऐसी प्रकृतिके भी प्रेमी पुरुष होते हैं, जो अनन्य प्रेममें निमग्न रहनेपर भी महान् भागवत श्रीभरतजीकी तरह या भक्तराज श्रीहनुमान्‌जीकी भाँति सदा ही 'रामकाज' करनेको तैयार रहते हैं। ऐसे भक्तोंके सभी कार्य लोकहितार्थ होते हैं। ये महात्मा एक क्षणके लिये भी परमात्माको नहीं भुलाते, न भगवान् ही उन्हें कभी भुला सकते हैं। भगवान्‌ने कहा ही है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६। ३०)

एक महात्माका प्रसाद

[मनका स्वरूप]

मनका पता आपको कब चलता है ? जब आप किसी काममें लगे रहते हैं, तब चलता है या जब बेकार होते हैं तब ? जब बेकार होते हैं, तब पता चलता है। पर मन तो दीखता नहीं है। वास्तवमें तब भी किये हुएका चिन्तन ही चलता है, पर संसारका जो चिन्तन है, वह मनमें है, पर चिन्तन मन नहीं है। वह चिन्तन आपके किये हुएका प्रभाव है, आप उसका समर्थन न करें। आप उससे लड़ें नहीं, उससे अपनेको मिलायें नहीं। मनसे अलग होकर मनका स्वरूप जानें। मनसे मिलकर कैसे जानेंगे ? कठिनाई यह होती है कि हम चिन्तनसे चिन्तनको रोकते हैं तो मूलका चिन्तन तो रुकता नहीं है, एक और नया चिन्तन पैदा कर लेते हैं। होनेवाले चिन्तनका यदि आप समर्थन न करें, विरोध न करें और उससे तादात्म्य न जोड़ें तो वह चिन्तन शान्त हो जायगा और आपको अपने मनका पता चल जायगा।

सबसे अच्छा और श्रेष्ठ जीवन

जिसमें संदेहकी भावना होती है, उसमें जिज्ञासा होती है और जिसकी सच्ची जिज्ञासा होती है, उसका समाधान भी हो जाता है। अतः आप सबसे पहले अपनी वास्तविक आवश्यकता अनुभव करें, वास्तवमें आपको और चाहिये क्या ?

जो सबको मिल सकता है, वह तो है परमात्मा और जो किसीको कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता है, वह है—संसार। परमात्मा माने जो सबको मिल सकता है, सदा मिल सकता है, अपनेमें ही मिल सकता है। अपनेसे जो कभी अलग न हो, वह परमात्मा है। अब आप उसे पसंद करेंगे या खाली परमात्मा शब्द पसंद करेंगे ? क्या आप ज्ञानपूर्वक अनुभव कर सकते हैं कि मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है ? इससे निर्विकारता मिल जायगी। निर्मम हुए बिना निर्विकारता नहीं मिलती; निष्काम हुए बिना शान्ति नहीं मिलती, असङ्ग हुए बिना मुक्ति नहीं मिलती। परमात्माको अपना माने बिना, अपनेमें माने बिना, अभी माने बिना, भक्ति नहीं मिलती। बोलिये क्या चाहिये आपको ? आप जो चाहेंगे, वह मिल जायगा।

यदि आप सोचते हैं कि मुझे ऐसा जीवन मिल जाय कि किसी प्रकारका अभाव न रहे, किसी प्रकारकी नीरसता न रहे, किसी प्रकारका संदेह न रहे तो आप उसको पसंद करें जो सदाके लिये और सभीके लिये सम्भव हो। अब अपनी बुद्धिसे सोचें कि ऐसी कौन-सी चीज है ? जो सदाके लिये होगी, वह अभी होती और उसे अपनी भी होनी चाहिये और अपनेमें होनी चाहिये। दुनियाका वही आदमी सबसे बड़ा हो सकता है, जो यह पसंद करे कि मुझे वह नहीं चाहिये जो सदाके लिये नहीं है और सभीके लिये नहीं हैं। अब संसारकी कोई वस्तु भी ऐसी नहीं है, जो सदाके लिये हो, सभीके लिये हो। परिस्थिति भी कोई ऐसी नहीं है, जो सदाके लिये हो, सभीके लिये हो। अवस्था भी कोई ऐसी नहीं है, जो सदाके लिये और सभीके लिये हो।

आप इस जरूरतको अपनी जरूरत मान लें कि मैं तो जो वस्तु सदाके लिये और सभीके लिये होगी, उसीको चाहता हूँ; क्योंकि यदि मुझको किसीसे अधिक मिल गया और किसीको कम मिल गया तो दीनता और अभिमानकी अग्नि जलेगी। सुखके पीछे भी शत्रु हो जाते हैं, सम्मानके पीछे भी शत्रु बन जा

हैं, योग्यताके भी विरोधी हो जाते हैं। पर यदि आप यह चाहते हैं कि आपका कोई विरोधी कभी न बने तो ऐसा सोचें कि मुझे वह न चाहिये, जो सदाके लिये नहीं है और सभीके लिये नहीं है।

आप कहेंगे कि बात तो बड़ी अच्छी है, पर मनुष्यको खाना-पीना चाहिये, समाजमें स्थान चाहिये, सम्मान चाहिये। इन सबका क्या होगा? इसके लिये एक व्रत लिया जा सकता है—'शरीर विश्वके काम आ जाय'। 'विश्व शरीरके काम आ जाय', आप यह न सोचें। 'हृदय प्रेमसे भर जाय'; 'राग-द्वेषसे भर जाय'—यह भी न सोचें। अहं अभिमानशून्य हो जाय। अगर हमारे 'अहं'में अभिमानकी गन्ध न रहे, हृदयमें प्रेमके सिवा और कुछ न रहे और शरीर विश्वके काम आ जाय तो हमारा कोई विरोधी उत्पन्न नहीं होगा।' यह व्रत—सबसे अच्छा जीवन, आदर्श जीवन बितानेके लिये परम आवश्यक है।

शरीर विश्वके काम कैसे आये? संसारमें या तो सुखी वर्ग दिखलायी देगा या दुःखी वर्ग। क्या आप सुखियोंको देखकर प्रसन्न हो सकते हैं? क्या आप दुःखियोंको देखकर द्रवित हो सकते हैं? हो सकते हैं तो आपका शरीर संसारके काम आ जायगा। इसमें किसी धन, योग्यता या शक्तिकी आवश्यकता नहीं है। आपको इससे अमित लाभ होगा। जबतक चित्तमें प्रसन्नता रहती है, तबतक कामकी उत्पत्ति नहीं होती तो आप निष्काम हो जायँगे; केवल सुखीको देखकर प्रसन्न होनेसे आपको इतना लाभ है। इसमें न पैसा खर्च होता और न योगादि करने पड़ते हैं। आप ऐसा व्रत बना लें। जब आप दुःखीको देखकर द्रवित होंगे तो सुखोपभोगकी रुचि मिट जायगी। भोगकी रुचि मिटनेसे स्वतः योग हो जायगा और कामका नाश हो जानेसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जायगी।

अपनी सेवा कैसे हो? तो अचाह होना चाहिये। आप कुछ भी चाहेंगे तो अपनी सेवा नहीं कर सकते। अपना करके यदि कुछ भी मानेंगे और कुछ भी चाहें तो अपने लिये अनुपयोगी हो जायगी। जो कुछ चाहता है या अनुभव करता है कि मेरा करके संसारमें कुछ भी है तो वह खुदके लिये तो अनुपयोगी है, फिर चाहे दुनियाके लिये कितना ही उपयोगी हो जाय।

ज्ञानका प्रकाश, प्रेमका रस और योगकी सामर्थ्य—ये तीनों जिसके जीवनमें आ जायँ, वह पूर्ण मानव हो जायगा। योग मिलता है—भोगवासनाके नाश होनेसे और ज्ञान मिलता है—ज्ञानका आदर करनेसे तथा प्रेम मिलता है—प्रेमास्पदको अपना माननेसे।

ज्ञान और मनुष्यके तीन कर्तृत्व

साढ़े तीन हाथके शरीरका नाम मानव नहीं है। मानव एक पद है। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि प्रत्येक मनुष्यमें तीन तत्त्व मौजूद हैं—१—जाननेकी शक्ति, २—माननेकी शक्ति और ३—करनेकी शक्ति।

इस प्रकार माननेकी शक्तिका सम्बन्ध परमात्माके साथ और करनेकी शक्तिका सम्बन्ध जगत्के साथ और जाननेकी शक्तिका सम्बन्ध अपने साथ है। अपने ही ज्ञानके प्रकाशमें अपनी भूलको निकाल दो, ज्ञानका अनुभव हो जायगा। यह अनुभव-ज्ञान सबमें मौजूद है। मनुष्यमात्रमें है, यह पढ़नेकी चीज नहीं है। मनुष्य संज्ञा ही तब बनती है, जब उपर्युक्त तीन प्रकारकी शक्तियाँ उसमें हों। जो जाननेमें आता है, उसे ज्ञान थोड़े ही कहते हैं, जिससे जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं। जिससे माना जाता है, उसे आस्था कहते हैं, जिससे किया जाता है, उसे बल कहते हैं। हाँ तो बलका उपयोग है—सेवामें, ज्ञानका उपयोग है—अपनी भूल मिटानेमें और आस्थाका उपयोग है—

परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें। तीनोंका अपनी-अपनी जगह उपयोग कर लीजिये।

बन्धन और मोक्ष

कुछ न चाहनेसे ही मोक्ष मिलता है। चाहना ही बन्धन होता है। अगर मालूम होता है कि मेरा कुछ है, मुझे कुछ चाहिये तो बस बँध गये। अगर आपको यह अनुभव हो जाय कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ न चाहिये—बस मुक्त हो गये। अगर आपको यह मालूम होता है कि संसारमें मेरा कुछ है और संसारसे मुझे कुछ चाहिये तो यह बन्धन हो गया और इसके विपरीत—मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ न चाहिये तो मुक्ति हो गयी।

जो होती है, उसको मुक्ति थोड़े ही कहते हैं। जो है—उसे मुक्ति कहते हैं। बन्धन बनानेकी सामर्थ्य आपहीमें है और मुक्त होनेकी सामर्थ्य भी आपमें ही है। ममता हट गयी, कामना हट गयी, तादात्म्य टूट गया, बस बन्धन टूट गया।

कुछ लोग सोचते हैं कि हमें इष्टदेवताका दर्शन हो जाय तो भक्तिकी पराकाष्ठा हो जायगी। पर इष्टदेवके दर्शन करनेसे कोई फायदा नहीं होगा, यदि उनसे प्रेम नहीं हुआ। प्रेम ऐसा होना चाहिये कि हमें इष्टदेव प्यारे लगें। हमारा प्रेम पराधीन नहीं है, हम तो कहते हैं कि—'हम उन्हें न भूलें, चाहे वे हमें मिलें या न मिलें।' दर्शनकी कामना करनेका अर्थ तो यह हुआ कि—'हम परमात्माका भी उपभोग करना चाहते हैं।'—यदि परमात्माके दर्शन आपको हो जायँ तो आप उन्हें पसंद ही नहीं करेंगे। जिनका दर्शन होता है, उनके प्रति उपेक्षाभाव सहज आता है। वे तो इसीलिये छिपे हैं कि आपको प्यारे लगें। आप 'दर्शन'की अपनी माँग बदल दें, आप यह माँगें कि हमें अपना इष्ट प्यारा लगे। वे मिलें या न मिलें, उनकी मर्जीपर छोड़ दें। परमात्मा उसीको मिलता है, जो परमात्माकी हर चीजको प्यार करता है। यह बड़ा भारी भ्रम है कि हम कहते हैं कि हमें इनका दर्शन हो जाय, उनका दर्शन हो जाय। अरे भाई, दर्शन होनेसे काम न बनेगा, इष्ट आपको प्यारा लगना चाहिये और इष्टकी हर चीज प्यारी लगनी चाहिये। प्यारा प्यारा और प्यारे-की हर चीज प्यारी लगनी चाहिये। लेकिन उसीको सिर्फ पसंद मत करो, प्यार करो। गलती क्या होती है कि हम संसारको पसंद कर लेते हैं, प्यार नहीं करते। पसंद करो परमात्माको और सेवा करो संसार-की। परमात्मा मिल जायगा।

सोचिये यदि परमात्मा भी इतनी तंग तबियतका हो जायँ कि वे किसी विशेष योग्यतासे, विशेष सामर्थ्यसे या विशेष परिस्थितिमें ही अपने मिलनेका कानून बना दें तो मैं वह पहला आदमी होऊँगा, जो कहेगा कि मुझे कुछ न चाहिये। मैंने तो यह सुना है कि दीन-से-दीनको, पतित-से-पतितको और दुःखी-से-दुःखी-को भी परमात्मा मिल सकते हैं; जब वह उन परमात्मा-को पसंद करता है। परमात्मा योग्यताके अधीन नहीं हो सकते। किसी परिस्थितिके अधीन नहीं हो सकते। परमात्मा तो सबके अपने हैं और सदैव हैं और सर्वत्र होनेसे अपनेमें भी हैं। अगर आप अपनेमें संतुष्ट रह सकते हों तो परमात्मा आपको मिल जायँगे।

मानवका स्वरूप क्या है?—आप उदार हो सकते हैं, आप स्वाधीन भी हो सकते हैं। आप प्रेमी हो सकते हैं। मानवका स्वरूप है, संसारके लिये उदारता, परमात्माके लिये प्रेम और अपने लिये स्वाधीनता। इसीलिये कहा है कि—

शरीर विश्वके काम आ जाय।
हृदय प्रेमसे भर जाय।
अहं अभिमान-शून्य हो जाय।

(स्वामी श्रीशरणानन्दजीके एक प्रवचनसे)

जीनेकी अभिलाषा

(लेखक—पं० श्रीदादूरामजी शर्मा, एम्० ए०, संस्कृत-हिन्दी)

कालके-झंझावातसे पँखुड़ियाँ वृक्षोंसे टूटकर गिर जाती हैं, फूल धूलमें मिल जाते हैं, अधपके फल झड़ पड़ते हैं। चारों ओर मृत्युकी विभीषिका, विनाशका ताण्डव, अस्थिरताका साम्राज्य और उनके बीच मुस्कुराता हुआ उन्नतग्रीव मानव—अपनी अप्रतिम शक्ति और अपराजेय मनोबलके साथ प्रकृतिकी विनाशक लीलाको चुनौती देता हुआ उसे पराभूत कर उत्तरोत्तर विकासके पथपर बढ़ता हुआ, पता नहीं, कबसे उसके साथ संघर्ष करता चला आ रहा है। कितने ही मनुष्य महामारीके शिकार हुए, ज्वालामुखीके भयावह विस्फोटने उनका सर्वस्व भूगर्भमें विलीन कर दिया, बाढ़ उनका सबकुछ बहा ले गयी! पारस्परिक संघर्षने भी मानवजातिका कम विनाश नहीं किया है।

मानव अनादिकालसे संसारकी क्षणभङ्गुरताको देख रहा है। शास्त्र एवं संतोंने भी संसारको मिथ्या बतलाया। बतलाये क्यों न? हँसते-बोलते चेहरे क्षणभरमें न जाने कहाँ चले जाते हैं? हमारा सुनहला संसार, हरा-भरा जीवनोद्यान हमेशाके लिये उजड़ जाता है। बौद्ध-दर्शनने सांसारिक दुःखोंको शाश्वत बतलाया और उनसे बचनेके लिये संसारको त्यागकर भिक्षु-जीवन व्यतीत करनेका सुझाव दिया। सभी धर्मोंने संसारसे असङ्गताकी—उसके सम्बन्धोंमें आसक्त न होनेकी शिक्षा दी है। यह सब होते हुए भी मानवके भीतर पता नहीं, ऐसी कौन-सी प्रबल इच्छाशक्ति है, जिसने उसे जीवनके प्रति उदासीन नहीं होने दिया; संसारके प्रति उसके हृदयमें प्रवाहित होनेवाले प्रेमके स्रोतको सूखने नहीं दिया।

मानवकी यह अदम्य इच्छाशक्ति ही 'जिजीविषा' या जीनेकी अभिलाषा कहलाती है, जिससे अनुप्राणित होकर वह जीना चाहता है—अपराजेय मृत्युके भयको जीतकर, अपरिहार्य विनाशको चुनौती देकर संसारके रागात्मक सम्बन्धोंकी समाप्तिसे भग्न हृदयको जोड़कर! इसी जिजीविषाका सशक्त और कभी मन्द न पड़नेवाला गम्भीर उद्घोष ऋषिके कण्ठसे भी फूट पड़ा था—'मृत्योर्माऽमृतं गमय'—'प्रभो! मुझे मृत्युसे अमरताकी ओर ले चलो।' कालकी अनन्ततामें औसतन पचास-साठ या अधिकतम सौ-सवा सौ साल जीनेवाले अल्पायु मानवकी यह अमरताकी कामना सामान्यतः कुछ उपहासास्पद-सी लगती है। पर वह अमरता क्या है, जिसकी ऋषिने कामना की थी? उसने अमरता किसे माना है?

सभीमें जीनेकी उत्कट इच्छा होती है। सभी संसारमें बने रहना चाहते हैं। कोई मरना नहीं चाहता। सभी ओरसे निराश, प्रताडित और घसीटते हुए जीवन-पथपर चलनेवाला मनुष्य भी थोड़ा और जी लेना चाहता है। वह अचानक उत्पन्न होनेवाले मृत्युके कारणोंसे संघर्ष करता है। लम्बी बीमारीसे आक्रान्त रोगी अथवा मृत्युशय्यापर पड़े हुए वृद्धसे भी, जो शायद ही आनेवाली उषाको देख सके, कहा जाय—'अच्छा हो, अब ईश्वर आपको जल्दी खींच लें, ताकि इस असह्य वेदनासे आपको छुटकारा मिले' तो उसकी मुख-मुद्रामें निश्चय ही अन्तर आ जायगा, भले ही वह इस बातका स्पष्ट विरोध न कर सके। हम कितने ही आत्मीय जनोंकी शवयात्रामें गये हैं। जाते समय हमारे मनपर विषादका जो गम्भीर भाव रहता है, वह श्मशानसे लौटते समय काफी कम हो जाता है। जिस परम आत्मीय जनकी मृत्युपर हमारा जीवन भी हमें भार-स्वरूप लग रहा था, हम सोच रहे थे कि उसके बिना

हम कैसे जी सकेंगे ? उसके चिर-वियोगजनित संताप-को भी कुछ दिनों बाद भूलकर संसारके नानाविध कार्योंमें उलझ जाते हैं। मृत्युकी घटनाओंको लगातार देखते-देखते तो हमारे मनपर उनका हल्का और क्षणिक असर ही हो पाता है। दूसरोंकी मृत्युके तीक्ष्ण शर हमारी जिजीविषाके दुर्भेद्य कवचको नहीं भेद पाते। तभी तो महाभारतकारने कहा है कि 'प्रतिदिन प्राणी मौतके मुँहमें जा रहे हैं, फिर भी दूसरे संसारमें बने रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥
(महाभारत ३। ३१३। ११६)

और विदुरने धृतराष्ट्रसे कहा था—

अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान्।
भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्॥
(श्रीमद्भा० १। १३। २२)

यौवन और सौन्दर्यसे समन्वित इस भौतिक पिण्ड (शरीर)की विभिन्न आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये धनका संग्रह करना, उसके लिये अधिकाधिक सुख-भोगके साधन जुटाना, अर्थात् जीवनको आनन्दपूर्वक जीनेकी इच्छा जिजीविषाका दूसरा भौतिकवादी स्वरूप है। भौतिकवाद निरीश्वरवादी है; क्योंकि वह सृष्टिको स्वतः निर्मित, विकसित और संचालित मानता है। वह व्यक्तिको ही कर्ता और भोक्ता मानता है।

इस भौतिकवादके भी दो भेद होते हैं—१–व्यक्ति-वादी भौतिकवाद और २–समाजवादी भौतिकवाद। व्यक्तिवादी भौतिकवाद व्यक्तिको साध्य मानता है और समाजको साधन। इसका झुकाव प्रकृतिवादकी ओर है। यह मानवके भीतर स्थित कामकी बलवती मूल प्रवृत्तिको संयत रखनेके नहीं, अपितु उसकी येन-केन-प्रकारेण पूर्ति करनेके पक्षमें है। धर्मका वह कट्टर विरोधी है और समाजके बन्धनोंको वह बलपूर्वक तोड़ डालना चाहता है। अधिकारका भाव उसमें प्रबल है और कर्तव्य-भावनाकी पूर्णतः उपेक्षा ! व्यक्तियोंकी स्वार्थसमन्वित जिजीविषाका टकराव ही समाजमें हो रहे वर्तमान संघर्षका कारण है। क्योंकि उससे प्रेरित होकर मनुष्य अपनी व्यक्तिगत क्षमताओंका प्रयोग समाजके शोषणद्वारा अपने लिये सुखके साधन जुटानेमें करता है। वर्तमान महाजनी सभ्यता या वणिग्वृत्तिका मूलाधार यही है।

समाजवादी भौतिकवादमें मनुष्य अपनी शक्तिको समाज-निर्माणमें लगा देता है और उसकी योग्यता उसके साथ-साथ समाजका भी हित-साधन करती है। यह अनाध्यात्मिक समाजवादी दर्शन भी अधूरा ही है; क्योंकि जब हम समाजकी बात करते हैं तो हमारे मस्तिष्कमें किसी देश-विशेष, प्रान्त-विशेष अथवा वर्ग-विशेषका खाका खिंच जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या विश्वबन्धुत्व (World Brotherhood) तक हमारी संकीर्ण विचारधाराकी पहुँच नहीं हो पाती। किसी भी देशका वैज्ञानिक अपनी क्षमताओंसे अपने देशकी समृद्धिका लक्ष्य ही रखेगा, विश्व-हितका भाव उसके मनमें या तो रहेगा ही नहीं अथवा रहेगा तो गौणरूपमें। देशहित और विश्वहितके टकरानेपर वह देशहितको प्रधानता देगा। विश्वमें उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियोंके प्रचार-प्रसारमें भी देशके अर्थ-लाभ आदिकी भावना ही प्रमुख होगी। स्वदेशको समृद्ध, सशक्त और अपराजेय बनानेकी प्रतिस्पर्धा आज विश्वमें चरम सीमापर पहुँच गयी है। फिर भी जिन वैज्ञानिकोंने अपनी प्रतिभा, त्याग और बलिदानद्वारा मानव-जगत्का समानरूपसे हित किया है, वे भौतिकवादी नहीं कहे जा सकते। जैसे मार्कोनीने रेडियोका आविष्कार किया, फ्रैंकलिनने धारा-विद्युत्की खोज की, शेरपा तेनसिंह और हिलेरीने हिमालयकी सर्वोच्च चोटीपर मानवीय विजयकी पताका फहरायी और आर्मस्ट्रांगने चन्द्रमापर प्रथम मानव-चरण रखे। इनमेंसे प्रथम

दो वैज्ञानिकोंने समष्टिकी कल्याण-साधनाकर तथा अन्तिम तीन अनुसंधानकर्ताओंने मृत्युको चुनौती देकर और अपने दुर्धर्ष साहसका परिचय देकर अमर यशःशरीर प्राप्त किया। इसलिये भौतिकवादका एक अद्भुत अध्याय प्रारम्भ करके भी वे भौतिकवादी नहीं कहे जा सकते। भौतिकवादका अर्थ है—स्वार्थलिप्सा, अर्थात् दूसरोंकी जिजीविषाको कुचलकर अपनी जिजीविषाकी पूर्तिकी चेष्टा करना।

इस भौतिकवादी जिजीविषाका लक्ष्य है—अपने वर्तमानको सँवारना। यह भूतकी उपेक्षा करके और भविष्यके प्रति निश्चिन्त रहकर अनिश्चित किंवा भ्रामक भावी स्वर्गसुखकी प्राप्तिके लिये अपने वर्तमान लौकिक सुखोंकी अवहेलना करनेवालोंका उपहास करती है। उसने हमारे अधिकाधिक उच्छृङ्खल इन्द्रिय-सुख-भोगोंमें व्यवधान पैदा करनेवाले अथवा आवश्यक अङ्कुश लगानेवाले धर्माचरण—त्याग, इन्द्रिय-संयम आदिके प्रति विद्रोहका स्वर ऊँचा किया है। किंतु यह बाहरसे जितना आकर्षक है, भीतरसे उतना ही खोखला भी है। इसीने विज्ञानको विनाशकी दिशामें प्रेरित करके दो विश्वयुद्धोंका भयावह दृश्य दिखलाया है। मानवकी प्रसुप्त पशुताको जगाया है और आज तीसरे विश्वयुद्धकी सर्वविध्वंसकारी सम्भावनाने मानव-जातिको चिन्तातुर कर दिया है।

'लोक-हितके लिये जीवन-धारण करनेकी इच्छा'—जिजीविषाका तीसरा प्रकार है। लोकरञ्जक महात्मा पुरुष लोकहितके आगे स्वर्ग-अपवर्ग—सबको तुच्छ मानता है। रन्तिदेवने कहा ही था—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'न तो मैं ईश्वरसे मोक्ष चाहता हूँ और न सांसारिक वैभव; अपितु चाहता हूँ कि सभी प्राणियोंका दुःख मुझमें आ जाय, जिससे वे सभी सुखी हो जायँ।' महात्माओंके हृदयमें सभी प्राणियोंके प्रति करुणाका सहज उन्मेष ही इस जिजीविषाका जनक है। ऐसा महापुरुष जीयेगा तो परोपकारके लिये और मरेगा तो परोपकारके लिये ही। ऐसी जिजीविषा लोक-कल्याण-कारिणी मनुष्यताकी जननी है।

दिलीपके देखते-देखते सिंहने नन्दिनी गौको धर दबोचा। राजाने अपने तरकससे सिंहको मारनेके लिये बाण निकालना चाहा; किंतु यह क्या? उनका हाथ वहीं अटक गया! उनकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ, सभी प्रयत्न निष्फल!! उन्हें एक तरकीब सूझी। उन्होंने सिंहसे कहा—'भैया सिंह! तुम अपनी भूख ही तो मिटाना चाहते हो; तो लो, मैं अपने शरीरको इसके बदले तुम्हारे आहारके लिये देता हूँ। इसका नवजात बछड़ा कितनी आतुरतासे रँभाते हुए इस संध्याकालमें इसकी प्रतीक्षा करता होगा, इसलिये इसे छोड़ दो—

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं
देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा
विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः॥
(रघुवंश २। ४५)

सिंहको हँसी आ गयी। उसने कहा—'राजन्! तुम कितने मूर्ख हो जो इस तुच्छ गायके लिये एकछत्र साम्राज्य, नवयौवन और सुन्दर शरीर सब कुछ त्यागनेको तैयार हो'—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं
नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥
(वही २। ४७)

राजाने उत्तर दिया—'सिंह ! तुम ठीक ही कहते हो ! धन, यौवन और सुन्दरता—ये तीन ही तो सांसारिक सुखके मापदण्ड हैं, किंतु क्या ये स्थायी हैं ? क्या दुर्भाग्य हमें धनसे वञ्चित नहीं कर देता ? क्या बुढ़ापा हमारे यौवन और सौन्दर्यको हमेशाके लिये नहीं छीन लेता ? ये सब भौतिक उपलब्धियाँ हैं, जिनका विनाश अवश्यम्भावी है। मेरे-जैसे मनीषी तो अमर यशःशरीर चाहते हैं। इसलिये तुम इस नश्वर भौतिक पिण्डको खाकर मेरे अमर यशःशरीरकी रक्षा करो—

> किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं
> यशःशरीरे भव मे दयालुः।
> एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
> पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥
> (वही २।५७)

और सिंहकी भौतिकवादी पशुता दिलीपकी प्राणिमात्रकी रक्षा करनेवाली उदात्त मानवताके आगे नतमस्तक हो गयी। यही पशुतापर मानवताकी विजय है।

यह लोकोपकारी शाश्वत यशःशरीर पा लेना ही अमरता है। मानवकी इस जिजीविषाको बड़े-बड़े प्राकृतिक और मनुष्यकृत विप्लव न मिटा सके, मृत्युका कराल चक्र उसे न पीस सका और अनन्त शून्यमें उसने मानवकी अमरताकी अमिट लकीर खींच दी। इसी अप्रतिम शक्तिकी ऋषिने प्रभुसे कामना की थी और सचमुच इस जिजीविषाकी सिद्धि कर वह अमर हो गया। भारतीय संस्कृतिके सिद्ध गायक सरस्वतीके कण्ठहारके कभी न मुरझानेवाले काव्य-कुसुमोंसे अपने व्यक्तित्वको सुरभित बना देनेवाले कालिदास आदि कविगण भी इन्हीं कारणोंसे अमर हो गये।

अब जिजीविषाके कारणोंपर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। जिजीविषाका मूल तत्त्व 'प्रेम' है, जो तीन रूपोंमें दिखायी देता है—१-अनुराग, २-मोह और ३-करुणा। माता-पिता और स्त्री-पुत्रादि स्वजनोंके प्रति जो सहज प्रेम होता है, उसे 'अनुराग' कहा जाता है। अनुराग निश्छल, निःस्वार्थ पारस्परिक प्रेमको कहा जाता है, जिसमें कर्तव्योंकी प्रधानता होती है, अधिकारोंका द्वन्द्व नहीं। यही अनुराग मनुष्यकी जीवन-यात्राका सबसे बड़ा पाथेय है, सम्बल है। इसीसे वह कर्मकी प्रेरणा और स्फूर्ति पाता है, कठिनाइयोंसे जूझकर उनपर विजय पानेका उत्साह और शक्ति पाता है। जिस दिन इस अनुरागरूपी मूलका उच्छेद हुआ तो समझिये कि उसी दिन जिजीविषाका यह लहलहाता हुआ वृक्ष भहराकर गिर पड़ेगा या अपनी सारी सरसता खोकर सूख जायगा। सर्वभौतिकसाधनसम्पन्न पाश्चात्त्य देशोंमें आत्महत्याओंकी निरन्तर चिन्ताजनक वृद्धिका रहस्य यही है। अनुरागमें, अनुरागी व्यक्तिमें विवेक और उदारताका भाव बराबर बना रहता है। यदि मैं अपने पुत्रपर अनुराग रखता हूँ तो उसे सत्कार्योंके लिये तो प्रोत्साहित करूँगा, किंतु उसमें दुष्प्रवृत्तियोंको पनपने नहीं दूँगा और यदि उनके उन्मूलनके लिये आवश्यक हुआ तो मैं कठोरता भी धारण कर लूँगा। जैसे अपने शरीरके फोड़ेको निर्ममतासे चीरकर उसका मवाद बहा देना ही हमारे लिये हितकर होता है, उसी तरह यदि मैं अपने पुत्रसे सच्चा स्नेह या अनुराग रखता हूँ तो सभी बच्चोंके प्रति मेरे मनमें स्नेहका भाव रहेगा। जो अपनी माँसे सच्चा अनुराग रखता है, वह दूसरेकी माँका तिरस्कार कैसे कर सकता है ?

प्रेमका दूसरा रूप है—मोह। अपने शरीर, पुत्र-कलत्र आदि सांसारिक वस्तुओंके प्रति विवेकहीन या अंधराग और अन्योंके प्रति अनुदारतापूर्ण व्यवहार ही 'मोह' कहलाता है। मिथ्या आशा और अहंकार-मिश्रित जड़ बुद्धि ही मोहका कारण है। गीताके १६ वें अध्यायमें ऐसे लोगोंको 'असुर' कहा है, जो आशाके

सैकड़ों पाशोंमें जकड़े हैं, काम-क्रोध-परायण हैं और शिश्नोदरकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक अर्थोपार्जनमें लगे हैं—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥
(गीता १६ । १२)

तथा—

जो 'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी'का भाव रखते हैं अथवा 'मैं अरु मोर तोर तैं' की भेदबुद्धि या जड़ता (माया)से ग्रस्त हैं । मोहमूल या जडतामयी जिजीविषा आत्मकल्याण और लोक-कल्याण दोनोंके लिये विघातक है । समाजमें पतनोन्मुख प्रवृत्तियों—जैसे अर्थसंग्रह, परस्पर वैर, स्वार्थ-लिप्सा, आदिका कारण यही है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान् समीहेत निकामकामः ।
अन्योऽन्यवैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥
(५ । ५ । १६)

'सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिमें अनवरत प्रयत्नशील जनसमुदायने आत्म-कल्याणकी दृष्टि खो दी है । वह मोहके अन्धकारमें भटक रहा है । थोड़ेसे सुखके लिये परस्पर वैर बढ़ा रहा है, किंतु वह मोहग्रस्त प्राणी संसारके अनन्त या शाश्वत दुःखोंको नहीं जानता ।'

महापुरुषोंके हृदयमें प्राणिमात्रके लिये जो सहज दया और उपकारसे मिश्रित प्रेमका भाव रहता है, उसे 'करुणा' कहते हैं । परलोक कल्याण उससे भी बढ़कर है । श्रीराम कहते हैं—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥
(उत्तररामचरित)

'लोककल्याणके लिये अपना स्वाभाविक स्नेह, दया या करुणा, सुख और सीताको भी त्यागनेमें मुझे कोई व्यथा न होगी ।'

इस प्रेम-मूला जिजीविषासे उत्पन्न वृक्ष है—आस्था । इसकी दो शाखाएँ हैं—१–श्रद्धा और २–विश्वास और इसका फल है—सामाजिक अभ्युदय । यदि हम वैयक्तिक पोषणके लिये सामाजिक अभ्युदयके मधुर फलको पाना चाहते हैं तो हमें जिजीविषाके पेड़की दोनों जड़ों—अनुराग और करुणाको सींचकर पुष्ट करना होगा और मोहका मूलोच्छेद करना होगा; क्योंकि मोहमूलक जिजीविषावाले भौतिक-साधन-सम्पन्न व्यक्तिको क्षणिक सुख-भोगके बाद मिलनेवाला अवकाशका समय मानो काटनेके लिये दौड़ता है । वह एक क्षण भी एकान्तमें अथवा अपनी संगतिमें नहीं रहना चाहता । उसकी सारी वृत्तियाँ, सारी चेष्टाएँ बहिर्मुखी हो जाती हैं । वह अपनेसे, अपने एकान्तसे भयभीत होकर पलायन-वादका सहारा लेता है । आज कर्तव्योंकी प्रायः पूर्णतः उपेक्षा और अधिकारोंका बीभत्स संघर्ष भी इसी जिजीविषाका परिणाम है । मनुष्यका अपने उदात्त मानवीय गुणोंकी उपेक्षा तथा अमरताके सर्वोत्कृष्ट लक्ष्यका विस्मरण करके अपनी विराट्‌ताको क्षुद्रतामें बदल देनेवाला यह स्वार्थ-संकीर्ण व्यवहार क्या आत्मा-वसादन या आत्महनन नहीं है ?

आज निर्धनको उसकी विपन्नता निगले जा रही है और सम्पन्नको उसकी अतृप्त वासना ! संतोष जो वास्तविक सुखका मूल है, मानो इस दुनियासे सदाके लिये चल बसा ! चारों ओर अनास्था, अविश्वास, असंतोष और संघर्षकी घुटनसे भरा विक्षुब्ध वातावरण और उनके बीच पड़ी आधुनिक मानवकी रुग्ण जिजीविषा !! क्या हम आशा करें कि हमारी मानवजाति विषय-सेवनके कुपथ्यको त्यागकर अध्यात्मकी ओषधिसे उसे पुनः स्वस्थ करनेकी चेष्टा करेगी ?

अतिशय भौतिकवादसे ऊबकर अध्यात्मकी ओर लौटनेवाले पाश्चात्त्य समाजने हमारे हृदयमें आशाकी ज्योति तो जला दी है । अब हमें चेतना है ।

जीयें तो ऐसे जीयें

(लेखक—श्रीसुधाकरजी)

इटलीके महान् सेनानी गैरीबाल्डीका घर । चारों ओर नीरव अंधकारका साम्राज्य । सहसा घरकी अँधेरी गैलरीमें किसीके गिरनेकी आवाज हुई । आगन्तुक झुँझलाहट और व्यङ्गके स्वरमें बोला—'क्या गैरीबाल्डीके घर आनेवालोंको हाथ-पैर तुड़वाना जरूरी है ?' स्वरको बिना पहचाने ही गैरीबाल्डीने अपनी पत्नीसे कहा—'देखो, कोई सज्जन आये हैं, जरा उन्हें रोशनी दिखा दो ।'

उनकी पत्नी अव्यवस्थित-सी हो उठी, 'रोशनी कैसे दिखाऊँ ? एक पैसा भी तो नहीं है, मोमबत्ती खरीदनेके लिये ।' विवश हो गैरीबाल्डी स्वयं उठे, द्वारपर जाकर आगन्तुकका हाथ पकड़ा और स्नेह-सिक्त स्वरमें बोले—'मित्रवर ! घरमें प्रकाशकी कोई व्यवस्था नहीं है, मेरे पीछे-पीछे आ जाइये, अब चोट नहीं लगेगी ।' एडमिरल लीनका आश्चर्यमिश्रित स्वर उभरा—'ऐसे महान् सेनानीके घरमें अँधेरा, आखिर क्यों ?'

'ओ हो ! एडमिरल, आप ? क्षमा करेंगे ।' स्वर पहचानते हुए गैरीबाल्डीने कहा—'युद्धमन्त्रीसे सैन्य-संचालनका उत्तरदायित्व ग्रहण करते समय मैंने भोजनके अतिरिक्त मोमबत्तियोंकी व्यवस्थाके लिये कोई करार नहीं किया था । इसलिये····कोई बात नहीं, चेहरे देखे बिना भी हम अँधेरेमें बातचीत तो कर ही सकते हैं !' भेंटवार्ताके तुरंत बाद एडमिरल तत्कालीन युद्धमन्त्रीके पास पहुँचे और गैरीबाल्डीके पास पर्याप्त धन भिजवा दिया । अगले दिन गैरीबाल्डीकी पत्नीने पूछा—'क्या मैं इनके द्वारा कुछ मोमबत्तियाँ खरीद सकती हूँ ?'

'बिल्कुल नहीं ।' गैरीबाल्डीका शान्त-संयत उत्तर था, 'इसके साथ कोई ऐसा आदेश नहीं है कि मैं मोमबत्तियाँ खरीद लूँ ।'····और उसी दिन उसने वह सारा धन अपने सैनिकोंमें बाँट दिया । देशको प्रकाश देनेवाले गैरीबाल्डीके घरमें आज भी अँधेरा ही था ।

उत्सर्गके ऐसे देवता ही धरतीपर स्वर्गका निर्माण करते हैं । मानवता इन्हींके कारनामोंसे समृद्ध हुई है । लेकिन सच्चा उत्सर्ग वही है, जिसका अभाव मनको व्यथित बना दे । वैभवके भंडारमेंसे कुछ कण बिखरा देना उत्सर्ग नहीं है । देशबन्धु चितरञ्जनदासके जीवनमें भी इसका एक प्रेरक प्रसङ्ग प्राप्त होता है—

त्याग और उत्सर्गकी इस चर्चाको यदि थोड़ा और बढ़ाएँ तो यह बात उभरकर सामने साकार हो उठेगी कि सुविधाके भंडारमेंसे कुछ आराम छोड़ देनेका नाम त्याग नहीं है । त्याग नाम है उस पथका, जिसमें फूलोंका नाम न हो और निरन्तर शूलोंकी चुभन पथिकका स्वागत करे । उत्सर्गके ऐसे ही देवता थे देशबन्धु चित्तरञ्जनदास ।

उस दिन देशबन्धु अलीपुर षड्यन्त्र केसके मुकदमेकी तैयारीमें व्यस्त थे । श्रीअरविन्द और अन्य क्रान्तिकारी देशभक्तोंके बचावके लिये वे दिन-रात जागकर तथ्य जुटा रहे थे । एक दिन एक व्यापारी सज्जन उनके सामने जमकर बैठ गये थे कि देशबन्धुसे अपना दो लाख रुपये लेकर ही वापस जाऊँगा । देशबन्धुने ये रुपये इनसे राष्ट्रिय आन्दोलनके लिये ही लिये थे । उसी समय एक सज्जन आये और अपने एक मुकदमेके लिये देशबन्धुको अनुबन्धित करनेकी प्रार्थना करने लगे । लेकिन इस देशभक्तको अब एक पलका भी समय कहाँ ! वह सज्जन पाँच लाख रुपये नकदतक देनेको तुरंत तैयार थे, किंतु देशबन्धुका शान्त विनम्र उत्तर था—'उन महान् देशभक्तोंके जीवनके सम्मुख पाँच लाख तो क्या ! आपकी सारी सम्पत्ति भी मेरे लिये नगण्य है, जिनके बचावके लिये मैं इस मुकदमेमें संलग्न हूँ ।'

यह सुनकर वे व्यापारी बन्धु बड़े लज्जित हुए, जो अपने दो लाख रुपये माँगने देशबन्धुके पास आये थे। त्यागके इस देवताके सम्मुख उन्हें अपनी तुच्छतापर घोर ग्लानि हुई। उन्होंने अपनी चेकबुक निकाली और श्रद्धाभिभूत होकर देशबन्धुके सम्मुख बढ़ाते हुए बोले—'मैं आया तो था आपसे अपना धन माँगने; किंतु आपके असीम त्यागकी तुलनामें कुबेरकी सम्पूर्ण सम्पदा भी कम है। अपनी तुच्छताके लिये क्षमा चाहता हूँ। आप जितना धन चाहें, इस चेकमें भर दीजिये। देशके लिये यह मेरी भी एक छोटी-सी भेंट हो जाय। आपकी समता कौन कर सकता है?'

ऐसा ही होता है—सच्चे त्यागका प्रभाव। त्यागपूत जीवनके चारों ओर एक प्रभामण्डल बन जाता है। उस प्रभामण्डलसे ऐसी किरणें फूटती हैं, जो स्वार्थसिक्त जनोंमें भी उत्सर्गका आलोक भर देती हैं। सेनापति सर फिलिप सिडनीका जीवन न केवल इंग्लैंडके लिये, अपितु विश्व-भरके लिये प्रकाशपुञ्ज कैसे बन गया? रानी एलिजाबेथकी राजसभाका यह रत्न जितना कलमकी नोकसे क्रान्ति-गीत रचनेमें निपुण था, उतनी ही दक्षता उसे रणभूमिमें शस्त्र चलानेमें भी प्राप्त थी। जुटफेनके मोर्चेपर लड़ता हुआ यह वीर घायल हो गया था। घावोंकी कसक और पीड़ासे उसका कण्ठ सूख रहा था। एक अनुचर बड़े यत्नसे कहींसे एक प्याला पानी लाया। तृषाकुल वीर सेनानी पानीका वह प्याला मुँहसे लगानेको ही था कि 'एक घूँट पानी'की आर्त याञ्चा उसके कानोंमें पड़ी। समीप ही घायल पड़े एक साधारण सिपाहीकी इस आकुल याचनासे फिलिप करुणार्द्र हो उठा। प्याससे फिलिपने वह प्याला अपने होठोंसे वापस लौटाकर घायल सैनिकके मुँहसे लगा दिया। स्वयं प्याससे तड़पते फिलिपके मुखपर अब उत्सर्गजन्य आनन्दकी आभा उभर आयी थी—'मेरे दोस्त! तुम्हें पानीकी मुझसे अधिक जरूरत है।' फिलिप इतने ही अस्फुट शब्द कह पाये थे और कुछ क्षण बाद ही प्याससे तड़पकर उन्होंने इस दुनियासे अन्तिम विदा ले ली। एक साधारण सैनिककी प्यास बुझानेके लिये सर फिलिपने प्यासे ही दम तोड़ दिया! लेकिन उनका आत्मोसर्ग इस दिव्य मन्त्रको प्राण दे गया कि आत्मरक्षा तो मनुष्यका स्वभाव है, किंतु आत्मोत्सर्ग है देवत्वका सोपान।

उत्सर्गकी महानता दुःख और अभावकी झोलीमेंसे कुछ बाँट देनेमें नहीं है, अपितु उत्सर्गकी दीप्ति प्रकट होती है अपार संचय करके, उसके सुख-आनन्दका मोह छोड़ सब कुछ मानवताके चरणोंमें समर्पित कर देनेमें। भामाशाह, रन्तिदेव और दधीचिका त्याग ऐसा ही न आदर्श त्याग था, जो सदा ही अनुप्राणित करता रहेगा।

मानव-जीवनके चरम सुख मोक्षतककी कामनाको ठुकरा देनेसे बड़ा त्याग और उत्सर्ग क्या हो सकता है? इतिहासके पृष्ठोंमें एक ऐसी ही दूसरी कथा भी अङ्कित है—बंदा वैरागीकी। राजवैभवको त्यागकर एक राजकुमार मोक्षके लिये वनमें साधनालीन है। गुरु गोविंदसिंह इस राजकुमार संन्यासीके पास अश्वसे उतरकर जा खड़े होते हैं। उसे प्रबोध देते हुए वे कहते हैं कि—'आज सारा देश शत्रुओंके पदाघातोंसे आक्रान्त है। तुम्हारी माँ-बहनोंकी मर्यादा असुरक्षित है और तुम व्यक्तिगत मुक्तिकी कामनामें लीन हो? स्वार्थको छोड़ो युवक संन्यासी, माँकी लाज बचा लो!' इन शब्दोंके जादूसे मन्त्रमुग्ध वह मोक्षकामी संन्यासी मृगासन छोड़कर खड़ा हो जाता है और माला-मनके फेंक मातृभूमिकी रक्षाके लिये चल पड़ता है। इतिहासने मुक्तिकी चाहको भी ठुकरानेवाले इस योगीको वीर बंदा वैरागीके नामसे जाना।

उत्सर्गका मार्ग विकट है। उत्सर्ग-पथमें उन्हीं पथिकोंके पदचिह्न अमिट हैं, जो इस राहपर चलते-चलते खुद भी राह ही बन गये।

गीताका ज्ञानयोग—२६

श्रीमद्भगवद्गीताके चौदहवें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क ७, पृष्ठ-संख्या २६७से आगे]

सम्बन्ध

सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है। अब रजोगुण-वृद्धिके लक्षण बारहवें श्लोकमें बताये जाते हैं—

श्लोक

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

भावार्थ

भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन! रजोगुणकी वृद्धि होने-पर अधिक धन प्राप्त करने और उसके संग्रहकी लिप्सा (इच्छा), कार्य करनेकी प्रवृत्ति, नये-नये कार्य करने-की स्फुरणा, अशान्ति एवं अनेक प्रकारकी वस्तुओं, क्रियाओं और व्यक्तियोंकी आवश्यकताका होना—ऐसी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

अन्वय

भरतर्षभ! रजसि, विवृद्धे, लोभः, प्रवृत्तिः, कर्मणाम्, आरम्भः, अशमः, स्पृहा, एतानि, जायन्ते ॥ १२ ॥

भरतर्षभ! भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन!

रजसि विवृद्धे—रजोगुण अर्थात् राग, आसक्ति, कामना, आशा, तृष्णा आदिके बढ़नेपर।

लोभः—लोभ।

जिस वृत्तिके कारण मनुष्य अधिक धनोपार्जन और उसके संग्रहका संकल्प करता है, उचित अवसर प्राप्त होनेपर भी धनका व्यय नहीं करता एवं अन्यायपूर्वक अनुचित उपायोंके द्वारा भी धनका संचय कर लेता है—उस वृत्तिका नाम लोभ है। लोभ सत्त्वगुणकी वृत्ति—त्यागको दबा देता है।

प्रवृत्तिः—प्रवृत्ति।

आसक्तिपूर्वक नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये अन्तःकरणमें जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे 'प्रवृत्ति' नामसे कहे गये हैं। प्रवृत्ति तमोगुणके कार्य आलस्य या निष्क्रियता (अप्रवृत्ति)की विरोधिनी है।

कर्मणामारम्भः—नये-नये कार्य आरम्भ करना।

अशमः—हृदयमें क्षोभ, अशान्ति।

रजोगुणके बढ़नेपर प्राप्त पदार्थोंमें ममता और उनके नाश न होनेकी इच्छा एवं अप्राप्त पदार्थोंकी कामना होती है। ऐसी कामना ही चित्तमें अशान्तिको जन्म देती है। सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं, इसलिये उनमें ममता-वासना रखनेसे कोई शान्त कैसे रह सकता है? मनुष्यकी सम्पूर्ण मनचाही कभी होती नहीं और मनचाही न होनेसे अशान्तिका जन्म होता है।

स्पृहा—आवश्यकता (अभिलाषा)।

किसी भी प्रकारके सांसारिक पदार्थोंको अपने लिये आवश्यक मानना स्पृहा है।

एतानि जायन्ते—ऐसी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

इस श्लोकमें वर्णित रजोगुणके पाँचों कार्यों—लोभ, प्रवृत्ति, नये-नये कर्मोंमें लगना, अशान्ति और स्पृहाका इस पदमें समाहार किया गया है।

सम्बन्ध

पहले दो श्लोकोंमें सत्त्व और रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण बताये गये। अब सत्त्वगुण और रजोगुणको

दबाकर तमोगुण कैसे बढ़ता है, इसका तथा तमोगुणके उन लक्षणोंका निरूपण किया जा रहा है—

श्लोक

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

भावार्थ

कुरुनन्दन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अस्वच्छता, किसी कार्यको करनेका मन न होना; आवश्यक लौकिक, पारलौकिक कार्योंकी अवहेलना और न करने योग्य कार्य करना एवं मूढ़ता तथा विपरीत निर्णय करना, इत्यादिकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।

अन्वय

कुरुनन्दन ! तमसि, विवृद्धे, अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, च, प्रमादः, च, मोहः, एतानि, एव, जायन्ते ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन—कुरुवंशी अर्जुन !

तमसि विवृद्धे—तमोगुणके बढ़नेपर ।

दोनों—सत्त्वगुण, रजोगुणके कार्योंको रोककर तमोगुणका अपने कार्यकी प्रबलता रखना ही उसका बढ़ना है । सत्त्वगुणके समय अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी वृत्तिमें स्वच्छता और सावधानी रहती है । तमोगुणकी वृत्तिको दूर करनेके लिये सीधे सत्त्वगुणसे सम्बन्ध जोड़नेकी अपेक्षा रजोगुण (क्रियाओं-) से सम्बन्ध जोड़ना होगा । वही क्रिया अगर संसारकी तरफ होगी तो तमोगुणमें ले जायगी और परमात्माकी तरफ होगी तो सत्त्वगुणकी तरफ ले जायगी ।

अप्रकाशः—इन्द्रियोंद्वारा उनके विषयोंको यथार्थतः न समझनेकी वृत्ति है । यह वृत्ति प्रकाशको दबा देती है ।

अप्रवृत्तिः—कोई भी कार्य करनेका मन न होना । केवल निरुद्देश्य लेटे-बैठे रहकर ही समय बितानेकी इच्छा करना । 'अभी नहीं, फिर कर लेंगे'—इस भावका उदय ।

अप्रवृत्तिको मिटानेके लिये प्रवृत्तिका आह्वान करना चाहिये । पहलेसे ही दृढ़ निश्चय करे कि मुझे 'अप्रवृत्ति'में समय लगाना ही नहीं है । यह उद्देश्य पहलेसे ही बनाया हुआ होनेसे अप्रवृत्तिके समय याद आ सकता है । यदि याद नहीं आयगा तो समय अप्रवृत्तिमें चला जायगा, परंतु सावधानी होते ही पुनः पश्चात्ताप होगा । इस पश्चात्ताप (जलन)में वह शक्ति है, जो इस स्वभावमें परिवर्तन ला देगी । पश्चात्तापसे भी उत्तम है—'आगेसे अब यह भूल नहीं करूँगा', ऐसा निश्चय । इससे शीघ्र सुधार हो सकता है । बलपूर्वक यह निश्चय होना चाहिये कि अब 'अप्रवृत्ति'में समय बिताना ही नहीं है । उद्देश्यकी ढिलाई और सुखासक्तिके कारण इस निश्चयमें कमी आती है ।

च—और ।

प्रमादः[1]—कर्तव्यकर्मकी अवहेलना करना अर्थात् कर्तव्यकर्म न करना और अकर्तव्यमें लगना । शरीर आदिद्वारा निरुद्देश्य चेष्टा करते रहना । यह (प्रमाद) सत्त्वगुणकी 'ज्ञान' वृत्तिका विरोधी है ।

च—तथा (समुच्चय अर्थमें है ।)

तमोगुणकी आलस्य और अज्ञानादि वृत्तियोंका (जिनका वर्णन इस श्लोकमें नहीं किया गया) समुच्चय इस पदसे किया गया है ।

मोहः—मूढ़ता ।

मोहके कारण विवेकका अभाव हो जानेसे मनुष्यपर मूढ़ता छा जाती है और वह कुमतिवश विपरीत निर्णय करने लगता है । तब वह कर्तव्यको अकर्तव्य, पवित्रको अपवित्र, नित्यको अनित्य, शुचिको अशुचि और हितको अहित मानने लगता है । (गीता १८ । ३२)—

१-'प्रमाद'की व्याख्या इसी अध्यायके ८वें श्लोकके अन्तर्गत देखिये ।

मनका मोहित हो जाना, किसी बातकी स्मृति न रहना, अतिनिद्रा, आलस्य आदिसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनाशक्तिका शिथिल हो जाना—यही 'मोह' है ।

तमोगुणके बढ़नेपर बुद्धिमें निश्चय ही विपरीत धारणा (मूढ़ता) आती है और उस समय मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक—दोनों ही प्रकारके कार्योंमें प्रमाद करता है । अतः तमोगुणकी उपर्युक्त वृत्तियोंमेंसे किसीका भी लक्षण अपनेमें दिखायी दे तो साधकको विशेषरूपसे सावधानी बरतनी चाहिये अर्थात् इनका शमन ही उसका कर्तव्य है ।

एतानि एव जायन्ते—ऐसी वृत्तियाँ भी पैदा होती हैं ।

इस श्लोकमें वर्णित तमोगुणकी चारों वृत्तियों—अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोहका इन पदोंमें समाहार किया गया है ।

विशेष बात—सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न, नष्ट तथा न्यूनाधिक होती रहती हैं । ये सभी परिवर्तनशील हैं । साधक इन वृत्तियोंके परिवर्तनका अपने जीवनमें अनुभव भी करता है—इससे यह सिद्ध होता है कि एक वस्तु परिवर्तनशील (बदलनेवाली) है और एक तत्त्व अपरिवर्तनशील (न बदलनेवाला) है । तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ—प्रकाश, ज्ञान, लोभ, प्रवृत्ति, अशान्ति, स्पृहा, अप्रकाश, अप्रवृत्ति और मोह आदि सभी बदलनेवाली हैं और इनके परिवर्तनको जाननेवाले 'पुरुष'में कोई परिवर्तन नहीं होता है । तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ दृश्य हैं और पुरुष इनको देखनेवाला होनेसे द्रष्टा है । द्रष्टा दृश्यसे सर्वथा भिन्न होता है—यह नियम है । दृश्यकी तरफ दृष्टि होनेसे ही द्रष्टा संज्ञा होती है । परंतु दृश्यपर दृष्टि न रहनेपर संज्ञारहित द्रष्टा रहता है । अनुकूलता-प्रतिकूलताके चक्करमें पड़नेपर यह पुरुष व्यर्थ ही दुःखी-सुखी होता रहता है ।

भगवान् उपर्युक्त तीन श्लोकोंमें क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन करके साधकको सावधान करते हैं कि गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ उसे अपनेमें प्रतीत होती हैं, वस्तुतः साधकका इनसे किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है । ये सभी वृत्तियाँ बदलती रहती हैं, यह प्रकृतिका कार्य है और स्वयं 'पुरुष' परमात्माका अंश होनेसे अपरिवर्तनशील है । प्रकृति और पुरुष—दोनों विजातीय हैं । बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है ? इस वास्तविकताकी ओर ध्यान रखनेसे तमोगुण और रजोगुण दब जाते हैं तथा साधकमें सत्त्वगुणकी वृद्धि स्वतः होती है । सत्त्वगुणमें भोग-बुद्धि होनेसे अर्थात् उससे प्राप्त सुखमें राग होनेपर यह (सत्त्वगुण) भी गुणातीत होनेमें अवरोध उत्पन्न कर देता है । अतः जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साधकको सत्त्वगुणसे उत्पन्न सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये । (क्रमशः)

एक ही शास्त्र और एकमात्र आराध्य !

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ —महर्षि वेदव्यास

'देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा गाया हुआ भगवद्गीताशास्त्र ही अद्वितीय शास्त्र है, देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र आराध्यदेव हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके नाम ही उत्तम मन्त्र है और उन भगवान्‌की सेवा ही एकमात्र (प्रधान) कर्तव्य-कर्म है ।'

सत्-चित्-आनन्द

(ले०—श्रीकृष्णहरिजी 'निर्मल')

सत्

सत् उसे कहते हैं जिसका बाध न हो, अर्थात् जो शाश्वत हो, जिसका अपना निरपेक्ष अस्तित्व हो। उसीसे हम 'हैं' और जिसके बिना हम कुछ नहीं हैं, वही हैं 'हम', वही सत्स्वरूप हमारी आत्मा है। सत् अर्थात् अमर, जो कभी मरता नहीं, जिसको स्वयं मरनेका भय नहीं और दूसरेको मरनेकी शिक्षा नहीं देता। वह तो स्वयं भी जीता है और दूसरेको भी जिलाता है; स्वयं समझदारी देनेमें सहायक होता है।

जो मनुष्य सत्से ठीक-ठीक जीता है, वह दूसरेको जीनेमें मदद करता है। ठीक-ठीक जीना यही है कि प्रतिपल सजग रहे। इन्द्रियोंके विषय-विकारों, पदार्थोंके प्रति सावधान हो अपनी मनोवृत्तियोंके प्रति सचेत रहे, जिससे पता चले कि मनमें क्या-क्या उथल-पुथल चल रही है। मनका धर्म है—संकल्प-विकल्प करना। वासनाओंके अनुसार उसमें संकल्प-विकल्प उठेंगे ही, किंतु यदि हम उनके प्रति सजग हो जाते हैं और वासनाओंसे संघर्ष नहीं करते तो वे निर्मल होने लगती हैं और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

लोग चिकित्सालय खोलते हैं, औषध वितरण करते हैं, स्कूल आदि खोलते हैं—इन सबका तात्पर्य यही है कि शारीरिक रोगसे निवृत्त हो मनुष्य स्वस्थ होकर लंबी आयुतक जी सके, शिक्षाद्वारा उनकी जानकारी बढ़ सके और वह निर्विघ्नतापूर्वक जीवन यापन कर सके। उलझे हुए मनुष्य तो बहुत मिलेंगे, किंतु सुलझा हुआ व्यक्ति गुरुकृपासे कोई-कोई होता है, जो संत महापुरुषोंसे प्रश्न कर समाधान प्राप्त कर चुका होता है। जिसके मनमें किसी प्रकारका संशय नहीं, वही मनुष्य सत् निजी वास्तविकतामें जीता है।

चित्

ज्ञानस्वरूप आत्माको चित् कहते हैं, जो स्वयंको भी जानता है और दूसरोंको भी, पर जो स्वयंको समझदार और दूसरोंको बेवकूफ बनाना नहीं चाहता। किसीको धोखा देनेके लिए असद्भाषण करना पड़ता है। अगर हम किसीको गलत मार्गपर लाकर उससे कुछ हर लेते हैं तो उसे हम मूर्ख बनाते हैं, जो एक प्रकारकी जड़ता है। प्रायः मनुष्य जड़तामें ही जीता है। चाहे मनुष्य धनके नशेमें, अहंकारके नशेमें अथवा शराबके नशेमें हो, वह पूरे होशमें नहीं है। इसलिये जड़त्वमें ही जीता है। सुषुप्तिमें मनुष्य 'न जानने'को भी जानता है और समाधिमें समग्रताका ध्यान करता है। इर्द-गिर्द पशु-पक्षियोंकी चहचहाहट हो रही हो, गधे रेंक रहे हों, कुत्ते मुँह फाड़-फाड़कर भौंक रहे हों, बालक रो रहे हों, किसी कुएँपर रहट चलनेकी आवाज आ रही हो, स्त्रियाँ बातें कर रही हों—इन सबको तटस्थतापूर्वक देखना व जानना ही होशपूर्वक जीना है। जानना एक ही है। जानकारियाँ तो विभिन्न हो सकती हैं, किंतु जानना नहीं। कभी हम ठेलेकी जानकारी कर रहे हैं, कभी मोटरकार, कभी स्त्री-पुरुष, कभी बालक-बालिका, कभी नदी-नाले, पहाड़, बादल, जंगल आदिकी। ये सभी तो जानकारियाँ हो गयीं, किंतु जानना (ज्ञान) एक ही है।

मनुष्य-ज्ञान और भगवत्-ज्ञान दो नहीं हैं। मनुष्य-ज्ञान भी भगवत्-ज्ञान ही है। जैसे—पानीसे भरे हुए

दस घड़ोंमें सूर्य भिन्न-भिन्न दिखायी देता है, किंतु सूर्य एक ही है। विभिन्नता घड़ोंके कारण है, न कि सूर्यके कारण। एक ही सूर्य उन दसों घड़ोंमें प्रतीत हो रहा है। उसी प्रकार भगवद्-ज्ञान भी विभिन्न अन्तःकरणोंके उपाधि-भेदसे भिन्न-भिन्न भासता है, दरअसल वह भगवज्ज्ञान ही है। राईके ज्ञानसे ज्ञान छोटा नहीं हो जाता, न पर्वतके ज्ञानसे वह पर्वताकार ही हो जाता है। ज्ञान प्रकाशकी तरह सदा एक है। प्रकाश-स्तम्भके नीचेसे बारात भी निकल जाती है और शव-यात्रा भी। एक्के, तांगे, बैलगाड़ी, साइकिल, मोटर, स्त्री-पुरुष सभी गुजर जाते हैं। प्रकाशका काम केवल प्रकाशना है, इसी प्रकार ज्ञानका काम केवल जनाना ही है।

आनन्द

आनन्द हमारा स्वरूप है, आनन्द कहींसे लाना नहीं है। आनन्दका टीका लगाना नहीं है। श्रीस्वामी निर्मलजी महाराज कहा करते थे कि आनन्द विषयोंमें नहीं, आनन्द प्रेममें है। विषयानन्द तो क्षणिक होगा, आकर चला जायगा, किंतु निजानन्द अपना स्वरूप है, इसमें आना-जाना जन्मना-मरना नहीं होता। हम शान्त होकर केवल तटस्थतापूर्वक बैठ जाएँ और मनसे संघर्ष न करें तो हमें आनन्दकी ही अनुभूति होगी। यह आनन्द किसी वस्तु या व्यक्तिपर आधारित नहीं; किंतु स्वयंका अनुभव ही आनन्दस्वरूपमें प्रकट होता है।

जो मनुष्य स्वयं आनन्दमें रहता है वह दूसरोंको भी आनन्द बाँटता है। हम किसीको दुःखी न करें और स्वयं दुःखी न हो। स्वयं भी सुखी रहें और दूसरोंको भी सुखी बनायें तथा आनन्दका वितरण करें तो यह आनन्द हमारे भीतर भी छलकेगा और दूसरोंको भी आनन्दित करेगा।

किसीको बुरा-भला अपशब्द कह देना, किसीसे गाली-गलौज कर कठोर वाक्य कहकर उसके हृदयको आघात पहुँचाना आनन्दको खण्डित करना है। हमारे वाक्यसे, व्यवहारसे किसीको दुःख न पहुँचे, यहाँतक कि इतना सँभल-सँभलकर चलें कि एक चींटीका भी नुकसान न हो। हम प्रेमसे बात करें, प्रेमसे देखें, प्रेमसे सुनें, प्रेमसे चलें और प्रेमसे रहें। प्रेम ही आनन्द बनकर हमारे हृदयमें उल्लास पैदा करता है।

समाधिमें जब मनमें कोई वस्तु, व्यक्ति, विचार, विकार नहीं रहते तो आनन्दस्वरूप आत्माका ही भान होता है।

सत्, चित्, आनन्द कहनेको तो तीन हैं, किंतु वस्तुतः तीनों एक हैं, जो अबाधित सत् है, वही ज्ञान-स्वरूप है और जो ज्ञान-स्वरूप है, वही आनन्द स्वरूप है।

कही हमारी मान

भजन बिन नर सब पशू समान।
खान पानमें उमर बितावत, और नहीं कुछ ज्ञान॥
मिल्यो आय भागन सों नर तन, अब तो समझ अजान।
सतसंगतमें बैठ ऐंठ तज, कर गोविंद गुन गान॥
छिन पल घड़ी घटत है स्वाँसा, काल रह्यो सर तान।
आय अचानक तक मारेगी, मौत सरूपी बान॥
फेर कछू नाहीं बनि आवे, निकस जाय जब प्रान।
'सरसमाधुरी' सब तज हरि भज कही हमारी मान॥

—संत सरसमाधुरी

भक्त और भगवान्‌का सम्बन्ध

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्कसे आगे]

भगवान् निर्गुण भी हैं, सगुण भी, निराकार भी हैं साकार भी, वे निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्लिप्त और निराधार होते हुए ही सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाले, सविशेष, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं। सांख्योक्त परस्पर-विलक्षण अनादि पुरुष और प्रकृति, चेतन और अचेतन दोनों शक्तियाँ, जिनसे सारा जगत् उत्पन्न होता है, भगवान्‌की ही परा और अपरा प्रकृतियाँ हैं। इन दो प्रकृतियोंके द्वारा वस्तुतः भगवान् ही अपनेको प्रकट कर रहे हैं। वे सबमें रहकर भी सबसे परे हैं। वे ही सबको देखनेवाले उपद्रष्टा हैं और वे ही यथार्थ सम्मति देनेवाले अनुमन्ता हैं। वे ही इसका भरण-पोषण करनेवाले भर्ता हैं, वे ही जीवरूपसे भोक्ता हैं, वे ही सर्वलोकमहेश्वर हैं, वे ही सबमें व्याप्त परमात्मा हैं और वे ही समस्त ऐश्वर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण भगवान् हैं। वे एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें विभक्त हुए-से जान पड़ते हैं। अनेक रूपोंमें व्यक्त होनेपर भी एक ही हैं। व्यक्त, अव्यक्त और अव्यक्तसे भी परे सनातन अव्यक्त वे ही हैं, क्षर, अक्षर और अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तम वे ही हैं। वे अपनी ही महिमासे महिमान्वित हैं, अपने ही गौरवसे गौरवान्वित हैं और अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हैं।

इन भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप-ज्ञान या दर्शन इनकी कृपाके बिना नहीं हो सकता। ये जिनपर अनुग्रह करके अपना ज्ञान कराते हैं, वे ही इन्हें जान सकते हैं। उनकी कृपा भक्तोंपर ही व्यक्त होती है। भक्तिरहित कर्मसे, प्रेमरहित ज्ञानसे भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप नहीं जाननेमें आता। निष्काम कर्मसे भगवान्‌का ऐश्वर्य-रूप जानाजाता है और तत्त्वज्ञानसे उनका अक्षर परब्रह्मरूप, परंतु उनके मधुरातिमधुर पुरुषोत्तम भावका तो अनन्य प्रेमभक्तिसे ही साक्षात्कार होता है। वैधी भक्ति करते-करते जब वह नित्य प्रेमरूपमें परिणत होती है, जब भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति और अनिर्वचनीय ऐश्वर्यको जानकर भक्त केवल उन्हींको परम गति, परम आश्रय और परम शरण्य मानकर बुद्धिसे, मनसे, चित्तसे, इन्द्रियोंसे और शरीरसे सब भाँति सर्वथा अपनेको उनके चरणोंमें निवेदन कर देता है, जब वह उन्हींको मन दे देता है, उन्हींमें बुद्धि लगा देता है, उन्हींको जीवन अर्पण कर देता है, उन्हींकी चर्चा करता है, उन्हींके नाम-गुणका गान करता है, उन्हींमें संतुष्ट रहता है और उन्हींमें रमण करता है; इस प्रकार जब देह-मन-प्राण, काल-कर्म-गुण, लौकिक और पारलौकिक भोग, आसक्ति, कामना, वासना सब कुछ उनके अर्पण कर देता है, तब वे उस प्रेमसे भजनेवाले भक्तको अपनी वह दिव्य बुद्धि दे देते हैं, जिससे वह अनायास ही उनको समग्ररूपसे पुरुषोत्तमरूपमें पा जाता है।

एक बात और है—ज्ञानके साथमें भगवान् निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, परम अगम्य तत्त्व हैं और ज्ञानयुक्त कर्ममें भगवान् सर्वैश्वर्य-सम्पन्न, सर्वगुणाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सृष्टिकर्ता, पालन और संहारकर्ता, नियन्त्रणकर्त्ता प्रभु हैं, परंतु भक्तिमें भगवान् ये सब होते हुए भी भक्तके निजजन हैं। भक्ति विश्वातीत और गुणातीत तथा विश्वमय और सर्वगुणमय परमात्माका अवतरण कराकर, उन्हें नीचे उतारकर भक्तके साथ आत्मीयताके अत्यन्त मधुर बन्धनमें बाँध देती है। भक्तिका साधक—प्रेमी भक्त भगवान्‌को केवल सच्चिदानन्दघन परब्रह्म या सर्वलोकमहेश्वर ऐश्वर्यमय स्वामी ही नहीं जानता, वह उन्हें अपने परम

पिता, स्नेहमयी जननी, प्राणोपम सुहृद्, प्यारे सखा, प्राणेश्वर पति, प्रेममयी प्राणेश्वरी, जीवनाधार पुत्र आदि प्राणोंके प्राण और जीवनोंके जीवन परम आत्मीयरूपमें प्राप्त करता है। भगवान्‌के दिव्य स्नेह, अलौकिक प्रेम, अनुपमेय अनुग्रह, परम सौहार्द, अनिर्वचनीय दिव्य नित्य सौन्दर्य और नित्य नवीन माधुर्यका साक्षात्कार और उपभोग भक्तिके द्वारा ही किया जा सकता है। निरे ज्ञान और कर्मके द्वारा नहीं। जिनमें भक्ति नहीं है, उनकी तो कल्पनामें भी यह बात नहीं आ सकती कि भगवान् हमारे पिता-पुत्र, मित्र-बन्धु और जननी-पत्नी भी बन सकते हैं। इसी प्रेमरूपा भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌के दिव्य अवतार होते हैं, इसीके प्रतापसे भक्त अपने भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका आस्वादन करता है और इसीके कारण भगवान्‌को जगत्‌के सामने अपना महत्त्व छिपाकर परम गोपनीय भावसे भक्तके सामने अपने परम तत्त्वका अपने ही श्रीमुखसे प्रकाश करना पड़ता है। तर्कशील अभक्तोंके लिये यह तत्त्व सर्वथा गुप्त ही रहता है।

भगवान्‌का अपने प्रेमी भक्तोंके साथ बिल्कुल खुला व्यवहार होता है; क्योंकि वहाँ योगमायाका आवरण हटाकर ही लीला करनी पड़ती है। उनके सामने सभी तत्त्वोंका प्रकाश हो जाता है। निर्गुण और सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार दोनों ही रूपोंका परम रहस्य भगवान् खोल देते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने भक्ति-की इतनी महिमा गायी और इसीलिये परम चतुर ऋषि-मुनि भी भक्तिके लिये लालायित रहते हैं।

भगवान् इतना ही नहीं करते, वे स्वयं भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं और उसके साथ खेलते हैं, खाते हैं, रहते हैं और प्रेमालाप करते हैं। कभी वे पुत्र बनकर गोदमें खेलते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

(श्रीरामचरितमा० १। १९८)

कभी माता-पिताकी वन्दना और उनकी सेवा करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

(श्रीरामचरितमा० १। २०४। ४)

कहीं मित्रोंके साथ खेलते हैं, कहीं प्रियाके साथ प्रेमालाप करते हैं, कहीं भक्तके लिये रोते हैं। कहीं भक्तकी सेवा करते हैं। कहीं भक्तकी बड़ाई करते हैं, कहीं भक्तके शत्रुओंको अपना शत्रु बतलाते हैं, कहीं भक्तोंकी स्तुति सुनते हैं और कहीं भक्तोंको ज्ञान देते हैं। यह आनन्द भक्त और भगवान्-में ही होता है। भक्त और भगवान्‌में न मालूम क्या-क्या रसकी बातें होती हैं, न मालूम कैसे-कैसे रहस्य खुलते हैं और न मालूम वे भक्तको कब किस परम दुर्लभ दिव्य लोकमें ले जाकर वहाँका आनन्द अनुभव कराते हैं। वे उसके हो जाते हैं और उसको अपना बना लेते हैं। उसके हृदयमें आप बसते हैं और उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं। सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, सम्पूर्ण आत्मानुभूति, सम्पूर्ण एकात्मबोध सब यहाँ दिव्य प्रेमके रूपमें परिणत हो जाते हैं। मुक्ति तो भक्तकी सेवा करनेके लिये पीछे-पीछे फिरती है, उसके चरणोंमें लोटती है—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः।

(प्रपन्नगीता)

जिसकी श्रीमुकुन्दके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति होती है, उसके चरणोंमें मोक्ष-साम्राज्यलक्ष्मी लोटती है।

इस परमभक्तिको तो प्राप्त करना ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान उपाय है। इस भक्ति-साधनकी नौ सीढ़ियाँ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

इस नवधा भक्तिके तीन विभाग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरणसे भगवान्‌के नामकी सेवा; पाद-सेवन, पूजन और वन्दनसे रूपकी सेवा और दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदनसे भावद्वारा भावसेवा सम्पन्न होती है। इनमें—भगवान्‌को एकमात्र स्वामी और अपनेको नित्य सेवक मानकर भक्ति करना 'दास्य'-भक्ति है। केवल सेवक मानना ही नहीं, परंतु प्रतिक्षण बड़ी सावधानी, नित्य नये उत्साह और बढ़ती हुई प्रसन्नतामें मन, बुद्धि शरीर-द्वारा निष्कामभावसे बाह्यान्तर सेवा करते रहना कर्तव्य है। जितनी अधिक सेवा हो, उतना ही हर्ष बढ़ना दास्य-भक्तिका लक्षण है। सच्चा भगवत्-सेवक सदा सेवा मिलती रहनेके अतिरिक्त और कोई फल नहीं चाहता। जिन भाग्यवानोंका चित्त भगवान्‌की सेवामें संलग्न है, उनको मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होता है। जो सेवाके बदलेमें भगवान्‌से कुछ चाहता है, वह भृत्य नहीं, व्यापारी है। निष्काम सेवकको किसी भी फलकी अभिसंधि नहीं होती। निष्काम सेवकका धर्म स्वामीके इशारेपर चलना होता है। कोई कैसा ही मनके प्रतिकूल कार्य हो, प्रभुका इशारा मिलते ही वह उसके अनुकूल बन जाता है, जैसे आदर्श सेवक श्रीभरतजीका श्रीरामके संकेतानुसार वनसे पुनः अयोध्यामें लौट आना। सेवक कभी मन मारकर या बेगार समझकर सेवा नहीं करता। सेवामें प्रतिक्षण उसकी प्रसन्नता बढ़ती रहती है और वह किसी तरहका शुल्क लेकर सेवा नहीं करना चाहता। इसीसे गोपियोंने अपनेको 'निःशुल्क-सेविका' और प्रह्लादजीने 'निष्कामदास' बतलाया है।

अपूर्व दासभक्त हनुमान्‌जी महाराजने कभी कुछ नहीं माँगा, बिना माँगे उन्हें अमूल्य हार दिया गया तो उसको भी रामसे रहित जानकर नष्ट कर दिया। कभी माँगा तो केवल नित्य सेवाका सुअवसर माँगा और कहा कि 'हे नाथ! मुझे वह भव-बन्धनको काटनेवाली मुक्ति मत दीजिये, जिससे आपका और स्वामी-सेवकका सम्बन्ध छूटता है, मैं ऐसी मुक्ति नहीं चाहता। श्रीहनुमान्‌जी इस निष्काम दास्य-भक्तिके परम आदर्श हैं। श्रीरामचरितमानसमें श्रीशिवजी कहते हैं—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥
(उत्तर० ४९। ४-५)

'हे गिरिजे! हनुमान्‌जीके समान न तो कोई बड़भागी है और न कोई श्रीरामजीके चरणोंका प्रेमी ही है, जिनके प्रेम और सेवाकी स्वयं प्रभुने अपने श्रीमुखसे बार-बार बड़ाई की है।'

'उन अतुल बलके धाम, सोनेके पर्वत-सुमेरुके समान कान्तियुक्त शरीरवाले, दैत्यरूपी वनको ध्वंस करनेके लिये अग्निरूप, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, सम्पूर्ण गुणोंके निधान, वानरोंके स्वामी और भगवान् श्रीरघुनाथजीके प्रिय भक्त पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जीको मैं प्रणाम करता हूँ,—

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥
(रामच० सु० मङ्गल० श्लो० ३)

परमात्मा हमारे पापोंका उचित दण्ड देते हैं

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

प्रायः मनुष्य समझता है कि 'उसको पाप करते हुए कोई नहीं देखता। वह छिपकर जो कुछ करे, उसे कोई नहीं जानता; उसके दुष्टतापूर्ण कार्य छिपे ही रहेंगे।' पर ऐसा सोचना निरी मूर्खता है। जो परमात्मा असंख्य सिर, असंख्य नेत्र और अनगिनत पाँववाला है, जो पाँच स्थूल और पाँच सूक्ष्म भूतोंसे युक्त सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है, उस सर्वान्तर्यामी परमेश्वरसे हमारा पाप-पुण्य कुछ भी छिपा नहीं है।

ईश्वर चाहते हैं कि मानव उनके दैवी नियमों—सत्य, न्याय, प्रेम, विवेक, सेवा, सहयोग, अहिंसा-पर सदैव चलता रहे। समाजमें नीति, धर्म, ईमानदारी, संतोष, समता आदि जीवन-तत्त्व तीव्रतासे बढ़ते रहें। पुण्य और ज्योतिका मार्ग अपनाकर मानव-समाज जीवनका पूरा आनन्द प्राप्त करे। स्वास्थ्यके नियमोंपर चलकर प्रत्येक मानव सौ वर्षोंकी परिपक्व आयुका उपभोग करे। शुभ कर्मोंद्वारा अपनी कलुषित आत्माकी शुद्धि करे और अन्तमें धर्म-कर्म एवं सत्प्रयत्नके परिणामस्वरूप अपनी आत्माको परम पवित्र कर परब्रह्ममें लीन हो जाय। जन्म-मरण भवबन्धनसे मुक्त होकर अनन्त सुखका अनुभव करे। यही मोक्षका मार्ग है। इसे प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है।

पर मनुष्य अज्ञानवश कुकर्म करता है। वासना-विकार, ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, असत्य एवं अनीतिका कुमार्ग उसे दुर्व्यसन और भोगपरायणतामें फँसा देता है। उसकी पाप-वासनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं—सांसारिक भोग, विषयजनित क्षुद्र आनन्दकी इच्छाएँ लगातार बढ़ती जाती हैं। खाने-पीने, मौज उड़ानेकी साधन-सामग्री जुटानेमें ही वह बहुमूल्य जीवन समाप्त कर देता है। कुछ दुष्ट लोग पतनके मार्गपर निरन्तर गिरते ही जाते हैं। उनकी भयानक लिप्साएँ नास्तिकतातक पहुँच जाती हैं और वे अमर्यादित जीवन व्यतीत करने लग जाते हैं। सुरा-सुन्दरीकेकुचक्रमें पड़कर वे स्वयं तो उसके दुष्परिणाम भुगतते ही हैं, समाजके लिये भी हानिकर हो जाते हैं। ऐसे दुष्टोंको ईश्वरद्वारा दण्ड मिलते हैं, उन्हें जीते-जी नरकका दुःख मिलता है। ईश्वरकी दृष्टि बड़ी व्यापक है। कोई पापी, दुष्ट, हिंसक, बेईमान उसकी अदालतके न्यायसे नहीं बच सकता। समाजके उद्दण्ड, हिंसक असामाजिक तत्त्वोंसे स्वस्थ औसत मनुष्योंको बचाये रखना जरूरी है। दुष्ट और अपराधी स्वस्थ समाजके शत्रु हैं। उनसे विषय-विकारका विष फैलनेका भय रहता है। अतः ईश्वरको उन्हें सुपथपर लानेके लिये दण्डरूपी हथियार प्रयोगमें लाना पड़ता है।

ईश्वर हमें वासनाकी सजा रोग-विकार और मानसिक अशान्तिके रूपमें भी देते हैं। हमारे मिथ्या घमण्डको असंतोष, आशङ्का, भयद्वारा दूर कर देते हैं। लोभकी सजा हानिके रूपमें देते हैं, हत्या और चोरी-का दण्ड दुर्व्यसनद्वारा देते हैं। ऐसे विकारी लोगोंको कुछ-न-कुछ गुप्त भय बना ही रहता है। भोगवादकी व्यापक सजा ही यह है कि आजका समृद्ध कहलानेवाला आदमी चिन्ता, निराशा, पारिवारिक अशान्ति—कलहसे बुरी तरह चञ्चल हो उठा है। उसकी जिंदगी भौतिकवादके कष्टोंसे बुरी तरह ग्रस्त है।

पापोंसे डरिये! नैतिक दृष्टिसे कोई अपराध, असत्य-भाषण, हिंसा, चोरी, धोखादेही, अशुभ आचरण, दुर्व्यसन, दोष, दुर्गुण, पाप-मल-विकारोंसे भरी जिंदगी मत जीजिये। प्रत्येक पापकी सजा मिलने-

वाली है। आज नहीं कल, आप अपने पापोंके लिये दण्डित होनेवाले हैं।

'ईश्वर हमें अपने दुष्कर्मोंकी ही सजा देते हैं'— यह विश्वास जीवनको मर्यादामें रखनेवाला उपयोगी सूत्र है। ईश्वरके प्रकोपका भय हमें पाप और अपराधोंसे सुरक्षित रख एक कवचका काम देता है। हम पापके रास्तोंपर जानेसे डरते हैं या भ्रष्ट होकर भी सुधर जाते हैं; अधर्म, पाप, दोष-दुर्गुणोंसे बच जाते हैं। पापमें प्रवृत्त आत्मज्ञानको भूले हुए अनेक राक्षसों, दुष्टों, अपराधियों, वासना एवं मलविकारोंसे ग्रस्त व्यक्तियोंको ईश्वरने सजाएँ दे-देकर सन्मार्ग सुझाया है। खेद है कि वे तब चेते जब पापके रास्तोंपर बहुत नीचे गिर चुके थे।

ईश्वर हमारे सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी न्यायी पिता हैं। अज्ञान और अबोधतामें हमसे पाप होते हैं। जिस प्रकार एक समझदार पिताको अपने अबोध, अस्थिर, अविवेकी बच्चोंको सन्मार्गपर लानेके लिये और अनुशासनका पाठ पढ़ानेके लिये कभी-कभी सजाएँ देनी पड़ती हैं, उसी प्रकार परमपिता परमात्मा गलतियोंके लिये हमें दण्ड देकर अनुचित कार्योंसे रोकते हैं और हमें उपयोगी जीवन-मार्गोंकी ओर मोड़ते हैं। यह दैवी सजा पाकर हम अपनी गलती अनुभव करते हैं और दुबारा उस मूर्खताको दुहरानेका साहस नहीं करते। यह प्रारम्भिक सजा हमें जीवनकी तबाहीसे बचा लेती है और अज्ञानका अंधकार दूर हो जाता है।

गॉड फियरिंग (God-Fearing) अर्थात् ईश्वर-द्वारा अपने पापोंकी सजाका भय—यह एक सद्गुण है। जो ईश्वरके प्रकोपसे सावधान रहेगा, वह दुष्टताके मार्गपर क्यों जायगा? उसे पता है कि ईश्वर प्रत्येक बुरे कर्मको नापसंद करते हैं। यदि हम ईश्वरीय दैवी दण्डविधानको समझ लें तो सदैव न्याय, सत्य, प्रेम और विवेकके सन्मार्गपर चल सकते हैं।

तत्त्वानुभूति

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

जो यथार्थ है, जो सारभूत अन्तिम तत्त्व है, वह क्या है? कैसा है, इस बारेमें तर्क करके किसी निष्कर्षपर नहीं पहुँचा जा सकता, न विश्वासका संबल लेकर ही यह पथ पार किया जा सकता है।

तर्क करने चलकर हम उलझनमें पड़ भूल-भुलैयामें फँसकर अटके-भटके-से रह जाते हैं। इधर विश्वासका पल्ला पकड़कर दृष्टिसंकीर्णतावश चक्षु-विहीन हुए-से पड़ावको ही मंजिल मान लेनेके भुलावेमें पड़ उसीमें रस लेते हुए किसी भी सूरतमें ठिकाने नहीं लग पाते।

और ऐसा क्यों न हो?

तर्क करके जान लेनेका आशय है—तत्त्वको अपनी सीमित बुद्धिमें सीमाबद्ध कर रख देना, उसकी असीमताकी धज्जियाँ उड़ा देना। ऐसे ही विश्वास करनेसे तात्पर्य है कि किसीकी अनुभूति जिस रंग-रूपमें मिली, जिस रंग-रूपमें हुई, उन्हीं रंग-रूपोंकी पकड़में तत्त्वको जकड़ा हुआ मान, इस तरह पहुँचते हुए भी अपनेको पहुँचा हुआ समझ, स्वयंको स्वयं बहलाये, बहकाये रखना—ये दोनों ही चेष्टाएँ—सहज प्रत्यक्ष हैं, निरी बचकानी, छिछोरतापूर्ण एवं निःसत्त्व हैं। इनमें तनिक भी गाम्भीर्य, प्रौढ़ता एवं सार नहीं।

लेकिन कहें क्या? दुनिया यही कर रही है। कुएँमें ही भाँग पड़ गयी है और सब पगलाकर रह गये हैं।

तथ्य तो यह है कि तत्त्व न तो तर्कका विषय है, न विश्वासका। वह तो मात्र अनुभूतिका विषय है। तर्क-चंगुलमें न फँसकर, विश्वास-पाशसे छूटकर उसकी अनुभूति की जाती है; बल्कि की नहीं जाती, होती है। हो तो अब भी रही है, सदासे होती आयी है।

सदैव होती भी रहेगी। लेकिन तर्क-विश्वासके घेरावसे मुक्त होनेपर उस अनुभूतिका प्रत्यक्ष होता है—बात केवल इतनी है।

इस अनुभूतिका 'दो और दो चार' जैसा स्पष्ट प्रत्यक्ष करनेके लिये एक साधककी दृष्टिसे साधन-रूपमें क्या करें, यह विचारणीय है। विचार करनेपर पता चलता है कि अभीष्टरूपमें अनुभव न होनेका मूल कारण मनकी मलिनता एवं चञ्चलता है। इन्हीं दोनोंके कृपा-कटाक्षवश हम तर्क-विश्वासकी परिधिमें चक्कर काटते रहते हैं। कहना चाहिये—विश्वास बनकर मनकी मलिनता हमें देखने नहीं देती और चञ्चलता तर्क बनकर देखनेकी क्षमताको ही रुग्ण बनाये रखती है। कोई वस्तु दीखते हुए भी न दीखेगी, अगर देखनेवाला उसे न देखे अथवा उसकी देखनेकी क्षमता विकार-ग्रस्त हो। यही बात यहाँ है। संदेह हमें देखने नहीं देता और तर्कने हमारी देखनेकी क्षमताको ही विकार-ग्रस्त बना रखा है। निष्कर्षतः मन स्वच्छ एवं स्थिर हो जाय तो सहज काम बन जाय। मनकी स्लेटपर यह अनुभव लौह-लेखनीसे लिखा है, जो मिटाये नहीं मिट सकता; लेकिन पढ़नेमें नहीं आ रहा है—बात इतनी-सी है। पढ़नेमें इस लिये नहीं आ रहा है कि इस लिखे हुए पर हमने तर्क और संदेहके चक्करमें पड़-पड़कर जाने और क्या-क्या लिख मारा है और अभी भी जाने और क्या-क्या लिख डाल रहे हैं।

वस्तुतः यह लिखावट सर्वथा बन्दकर पुराने लिखे हुएको हाथमें देना चाहिये। पुराने स्मारक आपने देखे ही होंगे, उनमेंसे जिन्हें लोग देखने जाते हैं, जिन्हें महत्त्व देते हैं, जिनकी देख-भाल होती रहती है, वे बने रहते हैं। जिन्हें कोई देखने नहीं जाता, जिन्हें कोई महत्त्व नहीं दिया जाता, जिनकी देख-भाल नहीं की जाती, वे ढहकर भूमिसात् होकर अपना नाम-निशान समाप्त कर बैठते हैं। हू-बहू यही बात पुराने लिखे हुएके साथ है। उस लिखे हुएको पढ़नेमें हम रस न लें, उसे महत्त्व न दें, उसका पोषण न करें तो उसे आजकलमें मिटना ही होगा। जितना-जितना हम उससे असङ्ग रहते हैं, उसे मूल्यहीन समझते हैं, उसे अपना बल नहीं प्रदान करते, उतना-उतना वह मिटता जाता है और मनकी स्लेट स्वच्छ होती जाती है, साथ-साथ स्थिर भी; क्योंकि इस लिखे हुएको पढ़ना अत्यधिक कठिन होता है (मनकी विकट रहस्यमयतासे कौन परिचित नहीं है?) और फलतः इस कोशिशमें स्लेटको खूब हिलाना-डुलाना जो पड़ता है।

निचोड़ यह निकला कि जब अहं, आसक्ति एवं कामनाओंसे-मुक्त रहकर कर्तव्य कर्म करनेके रूपमें नये लेखनको परिसमाप्ति दे दी जाती है, पुरानेको उसे मूल्यहीन समझकर, उससे असङ्ग रहकर, उसे अपना बल न प्रदान करके मिटानेको मजबूर कर दिया जाता है तो सहज वह पढ़नेमें आने लगता है, जिसे पढ़ना हमारा ध्येय है, जो मनकी स्लेटपर सदा-सदासे, सदा-सदाके लिये अमिटरूपमें अङ्कित है। एक क्षण आता है—विलक्षण क्षण! जब मन स्थिर होकर, शून्य होकर—कहना चाहिये, अ-मन होकर रह जाता है और हम सहज तत्त्वानुभूतिका अभीष्ट अनुभव कर लेते हैं। काश! हम सब यह अनुभव करते, सदा-सदाके लिये करते और तब यह दुनिया दुनिया न रहकर एकमात्र तत्त्व-झाँकी बन गयी होती। सब कुछ रसमय एवं रसरूप हो गया होता। रस-ही-रसकी रस-ही-रसमें बाढ़ आकर रस-ही-रसको रस-सराबोर कर गयी होती····कर रही होती।

राम-जन्मके हेतु

(लेखक—डॉ० श्रीराममोहनजी पाण्डेय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

(गताङ्क ७, पृष्ठ-सं० २५४से आगे)

जन्मसे लेकर अबतक माता कौसल्या और पिता दशरथ पुत्र-सुखमें निमग्न रहे हैं और पद-पदपर परमानन्द लूटते रहे हैं। उनके इस अटूट सुखका कारण है—

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या कें गोद[1] ॥

इससे विदित हो जाता है कि दशरथ और कौसल्याके इस सुखमें और भगवान्के इस चरितमें पहला हेतुही चरितार्थ हो रहा है। दशरथ और कौसल्याका यह आनन्द मनु और शतरूपाकी वर-याचना और उनके शीलके मेलमें नहीं है। हाँ! इस चरितके समाप्त होते-ही जहाँसे राम-राज्याभिषेकका प्रश्न उठता है, वहाँसे लेकर चित्रकूटतकके चरितमें मनु और शतरूपाकी तपस्याका हेतु चरितार्थ होता है।

इस हेतुपर विचार करनेके पूर्व हमें भगवान् शिवके उन वचनोंको भी देख लेना चाहिये, जो उन्होंने पार्वतीसे कहे हैं। मनु-शतरूपाके प्रसङ्गपर आते ही भगवान् शिव पार्वतीसे कहते हैं—

अपर हेतु सुनु सैल कुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी ॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा ॥

और—

लीला कीन्हि जो तेहिं अवतारा। सो सब कहिहउँ मति अनुसारा ॥[2]

इसके पश्चात् मनु और शतरूपाकी तपस्याका विस्तारसे वर्णन होता है। मनु और शतरूपा जो वरदान प्रभुसे माँगते हैं, उसके द्वारा उनके जिस शील और जिस राम-प्रेमका परिचय मिलता है, उसका पूरा प्रसार वनगमनके प्रसङ्गमें अयोध्यासे लेकर चित्रकूटतक मिलता है। भगवान्की पुत्ररूपमें उपलब्धि और उनकी भक्तिकी कामना तो दोनों ही करते हैं; परंतु दशरथ इसके अतिरिक्त यह भी विनती करते हैं कि—

सुत बिषइक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।
मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना ॥[3]

तथा शतरूपाका निवेदन है कि—

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं[4] ॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु, हमहिं कृपा करि देहु ॥

जहाँ राम दशरथकी विनयपर केवल 'एवमस्तु' कह कर रह जाते हैं, वहीं वे चतुर कौसल्यापर अनुग्रह कर इतना और कहनेकी कृपा करते हैं—

मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें ॥

इसके बाद है—सीता-हरण एवं उनकी खोज। इस खण्डमें नारद-शाप चरितार्थ होता है। इस शापको चरितार्थ करनेके लिये भगवान् केवल नर-शरीर ही धारण नहीं करते, बल्कि पूरी प्राकृत नर-लीलाका नाटक करते हैं। 'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी'[6] को चरितार्थ करनेके लिये ही मानो वे 'मनहु महा बिरही अति कामी'[7] के रूपमें वन-वन सीताकी खोजमें भटकते और 'लता तरु पाती'[8] से उनका पता पूछते-पूछते 'श्रीफल कनक कदलि'[9] को देख सीताको पुकारते हैं। आगे चलकर वानर-राज सुग्रीवकी 'मिताई'[10] में भी नारद-शाप ही चरितार्थ होता हुआ दिखायी देता है।

१—मानस १। १९८। २—वही १। १४०। १, २, ३। ३—वही १। १५०। ३। ४—वही। १४९। ४ तथा दो० १५०। ५—वही १। १५०। ७। ६—मानस १। १५१। ३। ७—वही १। १३६। ४। ८—वही ३। २९। ८। ९—वही ३। २९। ४। १०—वही ३। २९। ७

अन्तिम खण्ड है—रावण-वध और अन्तिम हेतु है प्रतापभानुका प्रसङ्ग। इस हेतुके प्रसङ्गमें ही 'गगन गिरा'-के द्वारा अन्य हेतुओंको समेट लिया गया है और सच पूछिये तो रामावतारका सबसे बड़ा प्रयोजन भी यही सिद्ध होता है। रामका रामत्व भी यहाँ अद्भुतरूपमें व्यक्त होता है। उस 'गगनगिरा'में अन्य हेतुओंके उल्लेखके अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है, वह यही तो है—

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥

तथा—

हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥[1]

भगवान् समाजसहित रावणका नाशकर पृथ्वी और देवता दोनोंको ही निर्भय कर देते हैं। इस प्रकार पञ्चम हेतुका सम्बन्ध प्रतापभानुसे है और रावण-वधमें वह चरितार्थ हो जाता है। इस प्रकार राम-जन्मके सभी हेतु प्रसङ्गानुसार सटीक हैं और सबकी उपयोगिता यथास्थान संयोजित है।

अब देखना यह रह गया कि—

'राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥[2]

होते हुए भी इन्हीं पाँच हेतुओंको महत्त्व देनेका क्या प्रयोजन है? इस दृष्टिसे देखनेपर यह अवगत होता है कि प्रथम-हेतुमें भक्तका वरदान और लोक-कल्याणकी भावना है तो दूसरेमें मर्यादा भङ्ग करनेके कारण शाप-का विधान। परंतु यह शाप मोल लिया जाता है लोक-कल्याणके निमित्त ही। तीसरे हेतुमें भक्त-हित-प्रेरणासे किसी मायासक्त संत-भक्तका शाप है, पर साथ ही रुद्रगणोंके शापका प्रसङ्ग भी है, जिसके साथ लोक-कल्याणका भी समावेश हो गया है। चौथे हेतुका प्रयोजन परम तपस्वी भक्तोंकी कामनाकी पूर्ति है। इसके साथ अन्य कोई प्रसङ्ग नहीं है। पाँचवेंमें लोककी पीड़ा है और लोक-कल्याणकी सच्ची पुकार। इस प्रकार राम-जन्मके हेतुमें भक्तहित और लोक-हित ही निहित है। और, 'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं'[3] के दोनों अर्थों—(अर्थात् हरिजन भी और सामान्य जन भी)को चरितार्थ किया गया है। भक्ति और लोक यहाँ भी हैं और हैं साथ ही सती और विप्र भी। कारण, दोनोंको ही सच्चे तपका बल है और है दोनों-काही समाजमें अत्यधिक महत्त्व। लोक-साधनके लिये इन दोनोंकी आवश्यकता है। समाजका बाह्य रूप विप्रके पराक्रमसे सुरक्षित है तो उसका अन्तर सतीके सदाचार-से पावन और मनोहर।

हाँ, तो पहले हेतुमें भक्तिका महत्त्व दिखाया गया है और यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भक्तिके प्रताप-से किसी नित्यलोकमें नहीं, बल्कि इसी लोकमें भगवान्-को पुत्र-रूपमें प्राप्तकर परमानन्दका लाभ लिया जा सकता है। बालक-रूप भगवान् जिनके इष्ट हैं और जो वात्सल्यभावसे भक्ति कर बाल-गोपालकी लीलामें ही लीन होना चाहते हैं, उनके लिये यह हेतु और कथाका पहला खण्ड विशेष महत्त्वका है। इस बाल-रूपमें विशेषता यह है कि इस चरितमें भी लोक-कल्याण होता ही रहता है। अहल्या-जैसे जीवों और राक्षसोंकी ही नहीं; बल्कि पशुओंकी भी इस रूपके द्वारा बन आती है और यह रूप सर्वत्र सबको जिस प्रकार मुग्ध कर अपनेमें रमाता रहता है, वह देखते ही बनता है। धनुष-यज्ञमें तो इसकी सामर्थ्यका डंका भी बज उठता है और रावणको चेतावनी भी मिल जाती है।

दूसरे हेतुका सम्बन्ध जलंधरसे है, और यह चरितार्थ होता है—कथाके तीसरे खण्डमें। इसके सम्बन्धमें प्रसङ्गवश ऊपर कहा ही जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना है कि यद्यपि इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत

१–वही १। १८६। १। ४। २–मानस बाल० १२१। १। ३–वही बा० १२१। १

है, फिर भी इसके द्वारा लोक-कल्याणमें सहायता मिलती है और नारद-शापके चरितार्थ होनेका अवसर भी। इससे भी भक्त-हित और लोक-हित दोनों सधते हैं।

तीसरा हेतु चौथे खण्डमें चरितार्थ हुआ है। इसमें भक्तका महत्त्व दिखाया गया है। केवल भक्त ही नहीं, संतका चरित भी इसमें आ जाता है और इसीसे भक्ति-के साथ मायाकी लीला भी आ जाती है। किस प्रकार भक्तिके कारण कामपर विजय हो सकती है। परंतु अहंकारके कारण किस प्रकार माया तथा मोहका शिकार बनकर काम-क्रोधका चेरा बनना पड़ता है और हरिकृपासे ही इससे परित्राण होता है, यह भी यहाँ भलीभाँति दरशाया गया है। साथ ही भगवान्‌का वह भक्त-वत्सलरूप भी दरशाया गया है, जो भक्त-वत्सलता-के वश हो भक्तका हित करता है—चाहे उसके फल-स्वरूप उन्हें कोई भी रूप रचकर कैसा भी नाटक क्यों न करना पड़े। परिणामस्वरूप ललित नर-लीलाका लालित्य सामने आता है और उसके साथ ही भक्तियोग भी। इतना ही नहीं, नारद और रामकी गोष्ठी भी बड़े ही मनोहर रूपमें सामने आती है और वह किसी भी सच्चे विरक्त संतकी आँख खोलनेके लिये आदर्श दृष्टान्त है। संतोंके गुण भी ज्ञात हो जाते हैं और नवधा भक्तिके उपदेशके साथ ही रामके मुखसे वह आश्वासन सुनायी देता है, जो आज भी न जाने कितने पतित और भग्न हृदयोंका एकमात्र अवलम्बन है।

चौथे हेतुका उल्लेख विशेष रूपसे होता है और चरितार्थ भी होता है—कथाके दूसरे खण्डमें। भक्त-हितकी भावना इसमें प्रमुख है। यहाँ यह दिखाया गया है कि भक्त अपनी भक्तिसे क्या कुछ नहीं प्राप्त कर सकता! मनु और शतरूपाको मुँहमाँगा वरदान मिला। साथ ही यहाँ सच्चे भक्तका स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। जहाँ इस हेतुका उल्लेख है, वहाँ अन्य प्रसङ्गोंकी भाँति इसके साथ किसी अन्य शाप या वरदानका उल्लेख नहीं है—न रावणका, न किसी अन्य शापादिका। और जिस खण्डमें यह चरितार्थ होता है, उसमें भी दशरथ-कौशल्या तथा अपने अंशों एवं आदि-शक्तिसहित रामका ही चरित है। इस चरितमें जहाँ मानव-हृदयको इस प्रकार खोलकर रख दिया गया है कि हम उसकी विविधता और विचित्रता-पर विस्मित हो जाते हैं, वहीं भक्तहृदयकी सच्ची अभि-व्यक्ति या परम संतोषका लाभ भी करते हैं। लक्ष्मण और निषादकी भक्तिका भव्य रूप तो है ही, भरतके चरित-में आदर्श अविरल हरि-भक्तिकी पूर्ण स्थापना भी कर दी गयी है। मनु और शतरूपाने अनन्त कालतक घोर तप करके जो वर प्राप्त किया था, उसका सदुपयोग यहाँ है। साथ ही उन्होंने अयोध्यामें जो किया, उसने लोक-मङ्गलकी साधनामें कैसा क्या योग दिया, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। दशरथके प्रेममें प्रेम और त्यागकी पराकाष्ठाके साथ ही कुल-धर्मकी मर्यादाकी रक्षा भी है तथा कौसल्याके प्रेममें है मर्यादा, कर्तव्य और विवेकका अनुपम समन्वय।

पाँचवें हेतु और पाँचवें खण्डमें लोक-पीडाका स्वरूप और लोकमङ्गलकी साधना प्रत्यक्ष हुई है। रामत्व और रावणत्वका अद्भुत उत्कर्ष यहीं है और रामावतारका मुख्य प्रयोजन यहीं सिद्ध होता हुआ दिखायी देता है। यही इस समस्त रूपककी नियताप्ति है। इसके आगे जो कुछ है—वह 'राम सरूप सिंधु'[1] और 'भगति निरूपर्णे'[2] ही है और है इस सम्पूर्ण रूपकके विवेकी दर्शकके हृदयका निष्कर्ष।

इस प्रकार इन हेतुओंमें आदिसे अन्ततक 'जनहित' की भावना व्याप्त है और भक्तोंकी अभिलाषा-पूर्ति तथा लोकका कल्याण—इन दो प्रयोजनोंके व्यापक क्षेत्रमें राम-जन्मके समस्त हेतु सिमट जाते हैं। फलतः यह सिद्ध होनेमें किसी प्रकारका संदेह नहीं रहता कि—

> बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार[3]।
> निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥

१–मा० बा० ३९। ४। २–मा० बा० ३६। १३। ३–मा० बा० दो० १९२

भगवत्कृपा-प्राप्तिके उपाय

(लेखक—श्रीरमेशचन्द्रजी के० परदेशी, 'वियोगी', एम्० ए०, पण्डित)

संख्यारहित जीवना । असंख्य जीव पाळणा ।
नमो तुज संजीवना । पुण्डलिक घना पांडुरंगा ॥
(ज्ञानेश्वर, नमनस्तोत्र)

श्रीभगवान्को या उनके अनन्य प्रेमको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य है । इस लक्ष्यको प्राप्त करनेका एकमात्र अधिकारी मनुष्य ही है । संत-वचनानुसार भगवत्प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-देह है । भगवान् स्वयं कहते हैं कि मेरी प्राप्तिके लिये एकमात्र मनुष्य ही समर्थ है—

देखोनि मनुष्य देहासी । सुख झाले भगवंतासी ।
अधिकारी ब्रह्मज्ञानासी । येणे देहासी मत्प्राप्ती ॥
(ज्ञाने० १५ । ३२८)

परम भाग्यसे दुर्लभ देह प्राप्त होता है । इसी शरीरद्वारा हम जन्म-मृत्यु—संसार-सागरसे पार पा सकते हैं । ज्ञानेश्वरजी कहते हैं—

तैसे येणिची शरीरे । शरीरा येणे सरे ।
किंबहुना येर झारे । चिरा पडे............ ॥
(ज्ञाने० १२ । १३६)

संत तुकारामजी कहते हैं—'दिला करुणाकरे । मनुष्य-देह सत्संग ।' यह मनुष्य-देह परम दयालु भगवान्-ने कृपा करके दी है । ऐसी देवादि-दुर्लभ देह तभी कृतार्थ होती है, जब वह मनुष्य भगवत्प्राप्ति कर लेता है । भगवान्को प्राप्त करनेके अनेक मार्ग बतलाये गये हैं । ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग एवं श्रीगुरु-कृपा आदि साधनोंके द्वारा हम श्रीभगवान्को प्राप्त कर सकते हैं । सच तो यह है कि ज्ञान, भक्ति, संत-सङ्गति एवं सद्गुरु-कृपा भगवत्कृपा बिना प्राप्त नहीं होती है । किंतु भगवान्का अनुग्रह हो जानेपर कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता ।

जैसे हा कृपा करील नारायण । तरि हेचि ज्ञान ब्रह्म होय ॥

वारकरी-सम्प्रदायमें श्रीगुरु-कृपा एवं भगवत्कृपाको भिन्न-भिन्न एवं अलग-अलग नहीं समझा जाता है । वारकरी-सम्प्रदायकी मान्यता है—श्रीगुरु एवं भगवान् एक ही हैं । तुकारामजी कहते हैं—

माझ्या विठोबाचा कैसा प्रेमभाव । आपणची देव होय गुरु ॥

सभी संतोंने गुरुकृपाकी विशेष महिमा गायी है । इतना ही नहीं; वे श्रीगुरुको भगवान्से अधिक मानते हैं । स्वयं भगवान् श्रीगुरुकी कृपा चाहते हैं—

सद्गुरु भजना परती । साधकास नाही प्राप्ती ।
मी भगवंत करी गुरु-भक्ति । इतराया कीर्ति पवाड ॥
(आनन्दलहरी)

राम राम करता घोष । तेणी तुटती भवपाश ।
तोहि शरण श्री वशिष्ठास । श्रीगुरु भक्ति सी सादर ॥
(संत एकनाथ—आनन्दलहरी)

भगवत्कृपा क्या है—

भगवान् परम दयालु भक्तोंके हितकारी एवं बिना कारण सभीपर प्रेम करनेवाले हैं । अत्यन्त भयानक, दुःखमय संसार-सागरसे वे अपने भक्तोंको पार करते हैं तथा उनका रक्षण करते हैं, उनके इसी वृत्तिको, स्वभावको कृपा कहा जा सकता है ।

भगवान्की कृपा अपार है, सदा-सर्वत्र सभी प्राणियोंपर उसकी वर्षा होती रहती है । संत तुकाराम कहते हैं—

पाडुरंग माझा कृपेचा सागर ।
भरला अपरंपार जलसिन्धू ।

भगवत्कृपाकी महिमा अपार है । वाणीद्वारा उसका वर्णन सम्भव नहीं, वह अनुभवगम्य है । भगवान्की कृपा महत्त्वशाली एवं अपार इसलिये है कि 'वह निर्हेतुक होती है; वे बिना कारण ही सभी प्राणियोंपर दया

करते हैं।' माता-पिताकी सेवा तथा कृपासे भगवत् सेवा एवं भगवत्कृपा महान् है; क्योंकि माता-पिताओंकी सेवा, उनका प्रेम भी यद्यपि अहेतुक होता है, फिर भी कुछ अभिलाषा रहती है। ईश्वर तो सभी माता-पिताओंके भी जनक हैं। और भगवान् जिस प्रकार अनन्त हैं, उसी प्रकार उनकी कृपा भी अनन्त है—

बहु आहे करुणावंत। अनंत हे नाम ज्या।
(संत तुकाराम)

भगवत्कृपा-प्राप्तिके उपाय—

भगवान् श्रीहरिकी अनन्य प्रेमसे शरण हो जानेपर भक्त स्वानन्द-सुखको प्राप्त होता है। भगवत्कृपाके बिना हम जन्म-मृत्यु—संसार-सागरको पार नहीं कर सकते हैं। ब्रह्मानन्दको भी प्राप्त नहीं हो सकते हैं। सुख एवं आनन्दका एकमात्र उपाय है 'भगवत्कृपा'। भगवान्के अलावा सुख प्रदान करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। सच्चा, स्थायी, पूर्ण सुख ईश्वरको प्राप्त करनेसे ही मिलता है—

आपुलातो एक देव करुनी ध्यावा।
तेणे बिन जीवा सुख नोहे॥
(तुकाराम—गाथा)

श्रीगीतामें भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
(१८ । ६२)

भगवान्को भक्तवत्सल दीनदयालु समझकर अनन्य-गतिसे शरण हो जानेपर उनकी महान् कृपा सहज ही बिना प्रयास प्राप्त हो जाती है। इसीलिये भगवान् अर्जुनको शरण जानेकी प्रेरणा देते हैं।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
(गीता १८ । ६६)

भगवान्की काय, वाणी तथा चित्तसे शरण जाना चाहिये। जिस प्रकार गङ्गाका पानी महासागरके जलसे मिलता है, उसी प्रकार भगवान्से सभी अङ्गोंसे एकरूप हो जाना चाहिये।

उनका परम मङ्गलमय कृपाप्रसाद प्राप्त होते ही—

'मग तयाचेनि प्रसादे। सर्वोपशान्ति प्रमदे। कान्तु होउनिया स्वानंदे स्वरूपचि रमसी।'
(ज्ञाने० १८ । १३२०)

—ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है।

जगत्के ये सारे दुःख-क्लेश, सारे अभाव, सारे शोक-विषाद तभीतक हैं, जबतक तुम्हें भगवान्की कृपा प्राप्त नहीं होती है। जिस क्षण भगवत्कृपाकी झाँकी तुम्हारे हृदयमें आ जायगी, उसी क्षण भगवत्कृपा-की परम शक्ति तुम्हारा सारा अभाव मिटा देगी।

भगवत्कृपाकी महिमा—

जड-जीवोंको तारनेवाले एकमात्र श्रीहरि ही हैं। संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—

जड जीवा तारण हरि एक। (हरिपाठ)

क्या अन्य देवताओंकी तथा परम-पुरुषोंकी कृपासे हमारा उद्धार नहीं हो सकता है? प्रश्नका उत्तर देते हुए महान् संत एकनाथजी कहते हैं—

सांडनी श्रीकृष्ण चरण। इन्द्रादि देवाचे करता भजन॥
ते देव मृत्यू ग्रस्तापूर्ण। मा भजत्याचे मरण कोणवारी॥
(एक० भागवत)

'सच तो यह है कि भगवान् श्रीहरिके बिना कोई भी समर्थ नहीं है, जो संसार-सागरसे हमारा उद्धार कर सके। यह सामर्थ्य एकमात्र श्रीहरिका है। भगवत्कृपा-की तथा भगवत् सामर्थ्यकी महिमा वेद, पुराण, शेष, नारद कोई भी पूर्णतः नहीं गा सकते। ज्ञानेश्वर कहते हैं—

ज्ञानदेव म्हणे हरि माझा समर्थ।
न कर वे अर्थ उपनिषदा॥ (हरिपाठ)

भगवान् स्वयं कहते हैं—'एकमात्र मैं ही शरणागतोंके शरण आनेके लिये योग्य हूँ। जो अनन्य प्रेमसे, भक्तिसे मेरी शरण आता है, उसे मैं अपनी कृपासे परमपदको प्राप्त करा देता हूँ।' संतशिरोमणि तुलसीदास-जीका कथन है—

राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिस्रामु ॥

ज्ञानेश्वर कहते हैं—

ऐय एकची लीला तरले । जे सर्व भावे भज भज से ।
तया ऐलीच यडी सरते । मायाजल (ज्ञाने० ७ । ९७)
जो होय भज अनन्य शरण । त्याचे निवारी भी जन्म-मरण ।
या लागी शरणागता शरण्य । मीची एकु……………।
(ज्ञाने० ९ । २८८)

भगवत्कृपा-सम्पादन करनेके लिये नारदजी कहते हैं—

अव्यावृतभजनात्   (ना० भ० सू० ३६)

भगवान्‌की अनन्य-गतिसे शरण होकर तथा उनका प्रेमसे सतत नाम-संकीर्तन करनेपर, उनके सामने दीन होकर उनके लिये रोनेपर भक्तवत्सल भगवान् दीनोंपर कृपा करते हैं; क्योंकि वे 'दीनवन्धु' हैं ।

हमें भी विह्वल होकर, शरणागत होकर प्रेमके हृदयसे सच्ची करुण प्रार्थना करनी चाहिये ।

सुनते ही करुणा की पुकार; दीनबन्धू दौड़ते आयेंगे ।

×   ×   ×

धाव पाव गा श्रीहरी । कृपा करी दीनावरी ॥
मज उद्धारी भवसागरी । भक्त कैवारी श्रीकृष्ण ॥

हमारी दैन्यपूर्ण सच्चे प्रेमकी पुकार सुनतेही प्यारे व्रजेन्द्र, भक्तवत्सल श्रीहरि अपनी परम कृपासे हमारा जीवन सफल करेंगे । उसी क्षण हम धन्य होंगे । उसी समय हमारी साधना सफल हो जायगी । फिर वे और हम दो नहीं रह जायँगे । हमारा मधुर मिलन होगा । मधुर मिलनके बाद क्या होता है ।

मधुर मिलन होते ही जीवन धन्य हो जायगा ।
और अणु-अणुमें सभी स्थानोंमें ब्रह्मानन्द छा जायगा ॥

दुःखालयमशाश्वतम्

संसार ही दुःखालय है । यहाँ दुःख ही निवास करते हैं । किसी भी अवस्थामें यहाँ सुख मिलेगा— यह एक भ्रम ही है । इतना बड़ा भ्रम कि संसारके सभी लोग इसमें भ्रान्त हो रहे हैं ।

सुकुमार शिशु—आनन्दकी मूर्ति होता है । कवियोंकी कल्पना बालकके आनन्दकी बात करते थकती नहीं । वृद्ध पुरुष अपने बाल्यकालकी चर्चा करते हुए गद्गद हो उठते हैं । 'फिर लौट आता बचपन !' कितनी लालसा भरी है इसमें ।

कोई ऐसा बालक भी मिला है आपको, जो सदा बालक ही बना रहना चाहता हो ? प्रत्येक बालक 'बड़ा होने'को समुत्सुक रहता है; क्योंकि वह बालक है—अपनी उत्सुकता छिपाये रहनेकी दम्भपूर्ण कला उसे आती नहीं । यदि शिशुतामें सुख है—बालक क्यों अपनी शिशुतामें संतुष्ट नहीं रहता ?

बालकका अज्ञान—लेकिन बालकमें अज्ञान और असमर्थता न हो तो वह बालक रहेगा ? वह चाहता है ज्ञान, वह चाहता है सामर्थ्य । आपकी भी स्पृहा अज्ञान और अशक्तिके लिये नहीं है, यह आप जानते हैं ।

अबोध बालक और उसकी अशक्ति—उसे प्यास लगी है—रोता है । भूख लगी—रोता है । शरीरको मच्छर काटें—रोता है । शरीरमें कोई अन्तःपीड़ा हो—रोता है । रोना—रुदन ही उसका सहारा है । रुदन ही उसका साधन है । रुदन सुखका लक्षण तो नहीं है न ?

सुकुमार कच्ची त्वचामें—मच्छर तो दूर, मक्खियाँ भी काटती हैं तो उन्हें उड़ा नहीं सकता ।

माता—पता नहीं क्या-क्या मधुर, अम्ल, तिक्त पदार्थ खा लेती है, पर उसका परिणाम शिशु भोगता है। उसके शरीरमें पीड़ा होती है, किंतु वह उन्हें बता नहीं सकता। कितनी विवशता है! कौन ऐसी विवशता चाहेगा?

क्या हुआ, जो शिशु कुछ बड़ा हो गया? उसका ज्ञान कितना? उसकी सभी आवश्यकताएँ दूसरे पूरी करें तो पूरी हों। उसका मन ललचाता है, वह मचलता है और अनेक बार इच्छा-पूर्तिके स्थानपर घुड़की या चपत पाता है।

अज्ञान और पराधीनताका नाम सुख तो नहीं है!

× × ×

बालक युवक हुआ। उत्साह, साहस और शक्तिका स्रोत फूट पड़ा उसमें। युवक क्या सुखी है? युवावस्था क्या सुखकी अवस्था है?

कामनाओंका दावानल हृदयमें प्रज्वलित हो गया। वासनाएँ प्रदीप्त हो उठीं और जहाँ काम है, क्रोध होगा ही।

वासना, असंतोष, अहंकार, क्रोध—युवावस्था इन सबको लिये आती है। चिन्ता, श्रम, शान्ति, निराशा, द्वेष—युवक इनसे कहाँ छूट पाता है?

वासना—वह तो संतुष्ट होना जानती ही नहीं और असंतोष ही दुःखका मूल है, यह कुछ स्पष्ट करनेकी बात नहीं है।

× × ×

युवक वृद्ध हो गया। अनुभव परिपक्व हो गये। ठोकरें खाकर उसके आचरण व्यवस्थित हो गये। सोच-समझकर कुछ करनेकी बात समझमें आ गयी। अनुभवसम्पन्न, समादरणीय वृद्ध—तब क्या वार्धक्यमें सुख है?

कोई मूर्ख भी बुढ़ापेमें सुखकी बात नहीं करेगा।

अनुभव क्या काम आये? समझ आयी, पर उसका आना रहा किस कामका? करनेकी शक्ति तो रह नहीं गयी। शरीर असमर्थ हो गया! रोगोंने देहमें घर कर लिया। आँख, कान, नाक, दाँत, हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ जवाब देने लगीं।

अशक्ति, पीड़ा और चिन्ताको छोड़कर बुढ़ापेमें है क्या? शरीरको रोगोंने पीड़ित कर रक्खा है और मन अपनी असमर्थतासे पीड़ित है। लोग तिरस्कार करते हैं। चारों ओर दुःख-ही-दुःख तो है।

× × ×

शरीरका अन्तिम परिणाम है मृत्यु—वह मृत्यु जिसका नाम ही दारुण है। मृत्युकी कल्पना ही कम्पित कर देती है। जिस शरीरपर इतना ममत्व—मृत्यु उसे छीनकर चितापर जलनेके लिये छोड़ देती है।

जन्म और मृत्यु—जीवनका प्रारम्भ घोर दुःखसे हुआ और उसका पर्यवसान दुःखमें हुआ। रोता आया, रोता गया। जिसका आदि-अन्त दुःख है, उसके मध्यमें सुख कहाँसे आयगा? उसके मध्यमें भी दुःख-ही-दुःख है।

'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।'

(संतवाणी-अङ्कसे)

गणपतिका सिद्ध तान्त्रिक प्रयोग

(लेखक—पं० श्रीअरुणकुमारजी शर्मा, एम्० ए०, बी० एड्०, न्याय-मीमांसा-सांख्ययोग-तीर्थ)

सम्पूर्ण विश्वमें परमेश्वरकी अनन्त अद्भुत शक्तियाँ क्रियाशील हैं। विभिन्न देवगण उन्हीं शक्तियोंके प्रतीक हैं। तान्त्रिक साधना भी देवताओंके माध्यम-से उन्हीं शक्तियोंकी साधना है। शक्ति और उनकी साधनाओंको ध्यानमें रखकर तान्त्रिक संस्कृतिने जितने सम्प्रदायोंको जन्म दिया, उनमें गाणपत्य सम्प्रदाय भी एक है। यह सम्प्रदाय उतना ही प्राचीन है, जितना तन्त्रके अन्य सम्प्रदाय। गाणपत्य सम्प्रदायके अनुसार भगवान् गणपतिके भी छः सूक्ष्म भेद हैं—

(१) महागणपति—ये जगत्कर्ता, परमतत्त्व परमेश्वर हैं। ये शक्तिसहित आराध्य हैं। ये एकदन्त-रूप हैं। इनकी उपासनासे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

(२) हरिद्रागणपति—ये पीताभ, पीत वस्त्रधारी, यज्ञोपवीतधारी, चतुर्बाहु, त्रिलोचन, दण्डपाणि, अङ्कुश-हस्त गणेश हैं।

(३) उच्छिष्ट गणपति—इनकी आकृति घोर है। इनकी आराधना-पद्धति वामाचारी कौलोंसे प्रभावित है।

(४–६) शेष तीन गणेशोंकी साधना, उपासना, पूजा आदि 'नवनीत', स्वर्ण और संतान गणपति-के रूपमें होती है। रुद्रके मरुद्गणोंके स्वामी होनेके कारण भी गणेशको 'गणपति' कहते हैं। गणपतिके दो लक्षणों—गजानन और ज्ञानराशिकी परम्परा कब पल्लवित हुई—यह असंदिग्धरूपसे नहीं कहा जा सकता। गणपति-प्रतिमालक्षणमें पौराणिक परम्पराकी गणपतिकी गजाननता एक अनिवार्य अङ्ग है। इलोराकी गणपति-प्रतिमाएँ 'गजानन'की हैं। भवभूतिने 'मालती-माधव'नाटकमें गजानन गणपतिकी ही स्तुति की है। गणेशका एक प्रसिद्ध नाम 'विनायक' भी है। विनायक-पूजाकी परम्परा भी बहुत प्राचीन है। स्थापत्य-निदर्शनोंमें सर्वप्रथम 'गणपति-विनायक'की प्रतिमा-पूजा-परम्पराके दर्शन इलोराके दो गुहा-मन्दिरों-में काल, काली, सप्तमातृकाओंके साथ-साथ गणपतिकी भी प्रतिमासे प्राप्त होता है। इन गुहा-मन्दिरोंका समय अष्टम शताब्दिका उत्तरार्ध माना जाता है। इस प्रकार गाणपत्य-सम्प्रदायका प्रादुर्भाव पाँचवीं तथा आठवीं शताब्दिके बीच हुआ होगा—ऐसा विद्वानोंका अनुमान है।

इस संदर्भमें 'गणपति' शब्दपर भी तान्त्रिक दृष्टिसे विचार कर लेना आवश्यक है। 'अ'से 'क्ष' पर्यन्त अक्षर अमृतमय और निर्मल हैं। अक्षरोंके अपने रंग हैं, इसलिये उन्हें वर्ण कहते हैं। आज्ञाचक्रके ऊपर स्थित अर्धचन्द्रसे क्षरित होनेवाले अमृत-बिन्दु ही मूलाधार आदि चक्रोंके दलोंमें आकर वर्णोंके रूपमें परिणत हो जाते हैं। (तात्पर्य-दीपिका पृ० ७५३)। प्रत्येक वर्ग पञ्चभूतों, त्रिदेवों, प्राणादिसे संघटित होते हैं, अतः उसकी वर्गरूपता स्वतः सिद्ध है। 'सनत्कुमारसंहिता'के अनुसार अकारादि स्वरोंका वर्ग धूम्र है। 'क' से लेकर 'ठ' पर्यन्त सभी वर्ण सिन्दुराभ हैं। 'ड'से 'फ' पर्यन्त दस वर्ग 'गौर' हैं तथा 'ब' आदि पाँच वर्ण अरुण एवं 'ल'कारादि पाँच स्वर्णवर्णके हैं। 'ह' और 'क्ष' तडित्-वर्ग हैं। 'मातृका-विवेक'के अनुसार प्रत्येक अक्षरके भिन्न-भिन्न वर्ण हैं—

यादयो नव पीताः स्युः क्षकारस्त्वरुणो मतः।
अकारं सर्वदैवत्यं रक्तं सर्ववशंकरम्।

(सौभाग्यभास्करभाष्य, पृ० १२५)

'कामधेनु-तन्त्रानुसार स्वर-वर्णादि ५० वर्ण मातृकाएँ ५० युवतियाँ हैं, जो विश्व ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं।

युवतियोंका यह गण ब्रह्मरूप गणेश ही हैं, इनसे परे न कोई विद्या है और न कोई मन्त्र।

वेद, शास्त्र, पुराण, दर्शन आदिकी शब्दमाला अथवा अक्षरमालाको भी 'गण' कहते हैं। 'क' से 'स' पर्यन्त ३२ अक्षरों अर्थात् वर्ण-गणोंके स्वामी गणेश हैं, इसलिये वे गणपति हैं। इस प्रकार ३२ गणोंके ३२ गणपति हैं। जिस अक्षरका जो वर्ण है, उससे सम्बद्ध गणपतिका भी वही वर्ण है। ३२ वर्णों (गणों)के ३२ गणपतियोंके नाम क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(१) बालगणपति, (२) वरुणगणपति, (३) भक्तगणपति, (४) वीरगणपति, (५) शक्तिगणपति, (६) द्विजगणपति, (७) सिद्ध-गणपति, (८) उच्छिष्टगणपति, (९) विघ्नगणपति, (१०) क्षिप्रगणपति, (११) हेरम्बगणपति, (१२) लक्ष्मीगणपति, (१३) महागणपति, (१४) विजयगणपति, (१५) नृत्यगणपति, (१६) ऊर्ध्वगणपति, (१७) एकाक्षरगणपति, (१८) वरगणपति, (१९) त्र्यक्षरगणपति, (२०) ध्वजगणपति, (२१) हरिद्रागणपति, (२२) एकदन्तगणपति, (२३) सृष्टिगणपति, (२४) उद्दण्डगणपति, (२५) ऋणमोचनगणपति, (२६) ढुण्ढिगणपति, (२७) द्विमुखगणपति, (२८) त्रिमुखगणपति, (२९) सिंहगणपति, (३०) योगगणपति, (३१) दुर्गागणपति तथा (३२) संकटहरणगणपति।

इसी आधारपर 'ब्रह्मणस्पति' गणपति पदवाच्य हुए। कालान्तरमें गणपति, ज्ञानपति परिकल्पित हुए। उनको 'ब्रह्मा'के रूपमें स्वीकार किया गया। वे वेदरूप थे। 'यास्क'-का निरुक्त ऐसे गणोंका ही संकलन है। गणेशको व्यास-का लेखक भी कहा गया है। अतः गणेश लेखन-कलाके भी स्वामी सिद्ध होते हैं। 'ऐतरेयब्राह्मण'में ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति अथवा बृहस्पतिके साथ गणेशकी एकात्मकता स्थापित की गयी है। 'गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्'में भगवान् गणेशको परब्रह्मके रूपमें स्वीकार किया गया है।

गणपतिसे सम्बद्ध अनेक तन्त्र-ग्रन्थ हैं। इनमें 'गणपति-रत्न-प्रदीप', 'गणपति-मन्त्र-समुच्चय', 'गणपति-रहस्य,' 'गणेशकल्प' और 'गणेशयामल' प्रमुख और महत्त्व-पूर्ण हैं। 'गणपति-तन्त्र' नामक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकमें गणपतिसे सम्बद्ध ३२ वर्णोंकी शक्तियोंको 'योगिनी'की संज्ञा दी गयी है। प्रत्येक 'वर्ण'की दो योगिनियाँ हैं। इस प्रकार कुल ६४ योगिनियाँ हैं। चौंसठ योगिनियोंके साथ गणपतिकी सम्बद्धता जबलपुरके निकट भेड़ाघाटके समीप स्थित चौंसठ योगिनी-मन्दिरमें दिखलायी गयी है, जिससे उपर्युक्त तथ्य प्रमाणित होता है। चौंसठ योगिनी-मन्दिर स्थापत्य-कला और तन्त्रकी दृष्टिसे अति महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक योगिनीकी पाषाण-प्रतिमा अलग-अलग गोलाकार रूपमें स्थापित है। मध्यमें शिव-पार्वतीका तान्त्रिकरूपकी पाषाण-प्रतिमा है। मन्दिरकी छतपर षट्कोण-यन्त्र है। चौंसठ योगिनी-मन्दिरके मार्गमें वाजना मठ है। यह अत्यन्त रहस्यात्मक तान्त्रिक मठ है, जिसके भीतर केवल 'पीठासन' है। मठसे सम्बद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कुछ गोपनीय तान्त्रिक तथ्य भी हैं।

गणपति-तन्त्रमें गणपतिका तान्त्रिक स्वरूप, लक्षण, यन्त्र-मन्त्र तथा उसकी साधना एवं सिद्धि-विधि विस्तारसे दी गयी है। 'गणपति-यन्त्र'के मध्यमें प्रणव (ॐ) है, जो एक षट्कोणमें स्थापित है। षट्कोणके चारों ओर तीन वलय हैं—जो ऋग्मण्डल, यजुर्मण्डल और साममण्डलके प्रतीक हैं। वलयके चारों ओर षोडश कमलदल हैं—जो षोडशकलाका प्रतीक है और जिसपर गणपतिका 'गं' बीजाक्षर अङ्कित है। पुनः तीन वलय हैं—जो सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंकी ओर संकेत करते हैं। उसके चारों ओर

षोडश मुख्य कमलदल और षोडश उपकमलदल हैं। उन ३२ दलोंपर 'क'से'स' पर्यन्त वर्ण क्रमसे स्थापित हैं। इसके बाद भूपुर है। जिसके चारों कोणोंपर ब्रह्मा, रुद्र, वरुण और इन्द्रके नाम उल्लेख्य हैं।

गणपति-यन्त्र निःसंदेह चमत्कारपूर्ण है। इस यन्त्रके साथ मृण्मय गणेश-प्रतिमाकी भी साधनाका विधान है। गणपतियन्त्र और गणपति-प्रतिमाकी संयुक्त साधना विशेषकर तीन मुख्य कार्योंके निमित्त हैं—(१) दारिद्र्य-नाश, व्यापारोन्नति, आर्थिक लाभ, (२) संतान-प्राप्ति और (३) विद्या, ज्ञान, बुद्धिकी प्राप्ति। इन तीनों कार्योंकी सिद्धिके लिये एक ही 'मन्त्र' है—'ॐ गं गणपतये नमः।' किंतु जपसंख्या और विधि भिन्न है।

प्रथम कार्यकी सिद्धिके लिये सायंकाल, दूसरे कार्यकी सिद्धिके लिये मध्याह्नकाल और तीसरे कार्यकी सिद्धिके लिये प्रातःकालका समय है। कम्बलके आसनपर पीत वस्त्र धारणकर सायंकाल पश्चिम मुख, मध्याह्नकाल पूर्व मुख और प्रातःकाल उत्तर मुख बैठकर, दारिद्र्यनाश आदिके लिये रुद्राक्षकी मालापर ग्यारह माला, संतानके लिये इक्कीस माला और विद्या आदिके लिये एकतीस माला जप करना चाहिये। (रुद्राक्ष असली हो और पीत वर्णके रेशमी डोरेमें होना चाहिये) प्रथम कार्यके लिये १०८ दिन, दूसरे कार्यके लिये ६४ दिन तथा तीसरे कार्यके लिये ३१ दिन नित्य जप और पूजन करनेका विधान है।

इसके पूर्व शुक्ल पक्षकी चतुर्थी तिथिको आठ अङ्गुल चौकोर ताम्रपात्रपर यन्त्रको उत्कीर्ण करा लेना चाहिये और उसी दिन 'पञ्चगव्य'से यन्त्रको स्नान कराकर प्रयोगसे सम्बद्ध दिशा और समयमें स्थापित करना चाहिये। यन्त्रके सम्मुख उसी समय कुम्हारके चाककी मिट्टीकी गणपति-मूर्ति स्थापित करनी चाहिये। दोनोंका एक साथ पञ्चोपचार पूजनकर जप करना चाहिये। ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। पूजनमें पीत पुष्पकी माला, पाँच घीके दीप तथा भोगमें पाँच बेसनके लड्डू, गुड़ तथा चनेका होना अनिवार्य है। कार्य सिद्ध होनेपर यन्त्र और प्रतिमाका पूजनकर दशांश हवन करना चाहिये। पाँच बटुक-ब्राह्मणको भोजन कराकर वस्त्र और दक्षिणा देनी चाहिये। एक यन्त्र और प्रतिमा एक ही कार्यके निमित्त एक ही बार प्रयुक्त होते हैं। बादमें उन्हें गङ्गा या किसी पवित्र नदीमें विसर्जित कर देना चाहिये। सिद्ध यन्त्र तत्काल फल प्रदान करनेवाला तथा अत्यन्त चमत्कारी है, इसमें संदेह नहीं।

'जोहत गजानन कौ आनन सदा रहैं !'

इंद्र रहैं ध्यावत मनावत मुनिंद्र रहैं,
गावत कविंद्र गुन दिन-छनदा रहैं।
कहै 'रतनाकर' त्यों सिद्धि चौंर ढारति औ,
आरति उतारति समृद्धि-प्रमदा रहैं॥
दै दै मुख मोदक विनोद सौं लड़ावत ही,
मोद-मढ़ी कमला उमा औ वरदा रहैं।
चारु चतुरानन, पंचानन, षडानन हूँ,
जोहत गजानन कौ आनन सदा रहैं॥

—कविवर रत्नाकरजी

संतवाणी

[परमहंस श्रीरामकृष्णदेवके अमृतवचन]

शहरमें नवीन आये हुए मनुष्यको रात्रिमें विश्राम करनेके लिये पहले सुख देनेवाले एक स्थानको खोज कर लेनी चाहिये, और फिर वहाँ अपना सामान रखकर शहरमें घूमने जाना चाहिये, नहीं तो, अँधेरेमें उसे बड़ा कष्ट उठाना पड़ेगा। उसी प्रकार इस संसारमें आये हुएको पहले अपने विश्राम-स्थानको खोज कर लेनी चाहिये और इसके पश्चात् फिर दिनका अपना काम करना चाहिये। नहीं तो, जब मृत्युरूपी रात्रि आयेगी तो उसे बहुत-सी अड़चनोंका सामना करना पड़ेगा और मानसिक व्यथा सहनी पड़ेगी।

* * *

एक तालावमें कई घाट होते हैं। कोई भी किसी घाटसे उतरकर तालावमें स्नान कर सकता है या घड़ा भर सकता है। घाटके लिये लड़ना कि मेरा घाट अच्छा है और तुम्हारा घाट बुरा है, व्यर्थ है। उसी प्रकार दिव्यानन्दके झरनेके पानीतक पहुँचनेके लिये अनेक घाट हैं। संसारके किसी धर्मका सहारा लेकर सच्चाई और उत्साहसे आगे बढ़ो तो तुम वहाँतक पहुँच जाओगे, लेकिन तुम यह न कहो कि मेरा धर्म दूसरोंके धर्मसे अच्छा है।

* * *

अगर तुम संसारसे अनासक्त रहना चाहते हो तो तुमको पहले कुछ समयतक—एक वर्ष, छः महीने, एक महीने या कम-से-कम बारह दिनतक किसी एकान्त स्थानमें रहकर भक्तिका साधन अवश्य करना चाहिये। एकान्तवासमें तुम्हें सर्वदा ईश्वरमें ध्यान लगाना चाहिये। उस समय तुम्हारे मनमें यह विचार आना चाहिये कि 'संसारकी कोई वस्तु मेरी नहीं है। जिनको मैं अपनी वस्तु समझता हूँ, वे अतिशीघ्र नष्ट हो जायँगी।' वास्तवमें तुम्हारा मित्र ईश्वर है। वही तुम्हारा सर्वस्व है, उसको प्राप्त करना ही तुम्हारा ध्येय होना चाहिये।

* * *

जैसे मलिन शीशेमें सूर्यकी किरणोंका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार जिनका अन्तःकरण मलिन और अपवित्र है तथा जो मायाके वशमें हैं, उनके हृदयमें ईश्वरके प्रकाशका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। इसी प्रकार स्वच्छ हृदयमें ईश्वरका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिये पवित्र बनो।

* * *

संसारमें पूर्णता प्राप्त करनेवाले मनुष्य दो प्रकारके होते हैं। एक वे, जो सत्यको पाकर चुप रहते हैं और उसके आनन्दका अनुभव बिना दूसरोंकी कुछ परवा किये स्वयं किया करते हैं। दूसरे वे, जो सत्यको प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन उसका आनन्द वे अकेले ही नहीं लेते, बल्कि नगाड़ा पीट-पीटकर दूसरोंसे भी कहते हैं कि आओ और मेरे साथ इस सत्यका आनन्द लूटो।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन]

परदोष-दर्शनकी प्रवृत्ति कैसे दूर हो ?

इसका एक ही उपाय है और वह यह है कि अपने दोषोंको नित्य-निरन्तर बड़ी सावधानीसे देखते रहना, ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि रखना कि मन कभी धोखा दे ही न सके और क्षुद्र-से-क्षुद्र दोष भी छिपा न रहे। साथ ही यह हो कि दोषको कभी सहन नहीं किया जाय, चाहे वह छोटा-से-छोटा ही हो। इस प्रकार करनेपर अपने दोष मिटते रहेंगे और दूसरोंके दोषोंका दर्शन और चिन्तन क्रमशः बंद हो जायगा। अपने दोष एक बार दीखने लगनेपर फिर वे इतने अधिक दीखेंगे कि उनके सामने दूसरोंके दोष नगण्य प्रतीत होंगे और उन्हें देखते लज्जा आयगी। कबीरजीने कहा है—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

जो साधनसम्पन्न बड़भागी पुरुष अपने दोष देखने लगते हैं, उनके दोष मिटते देर नहीं लगती। फिर यदि उनको अपनेमें कहीं जरा-सा भी कोई दोष दीख जाता है तो वे उसे सहन नहीं कर सकते और पुकार उठते हैं कि 'मेरे समान पापी जगत्में दूसरा कोई नहीं है।' एक बार महात्मा गाँधीजीसे किसीने पूछा कि 'जब सूरदास, तुलसीदास-सरीखे महात्मा अपनेको महापापी बतलाते हैं, तब हमलोग बड़े-बड़े पाप करनेपर भी अपनेको पापी मानकर सकुचाते नहीं, इसमें क्या कारण है ?' महात्माजीने इसके उत्तरमें कहा था कि 'पाप मापनेकी उनकी गज दूसरी थी और हमलोगोंकी दूसरी है।' सारांश यह कि दूसरोंके दोष तो उनको दीखते नहीं थे और अपना क्षुद्र-सा दोष वे सहन नहीं कर सकते थे। मान लीजिये, भक्त सूरदासजीको कभी क्षणभरके लिये भगवान्‌की विस्मृति हो गयी और जगत्‌का कोई दृश्य मनमें आ गया, बस, इतनेसे ही उनका हृदय व्याकुल होकर पुकार उठा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो, ताहि बिसरायो, ऐसो नमकहरामी॥

मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर आत्मनिरीक्षण करता रहे और घंटे-घंटेमें बड़ी सावधानीसे यह देखता रहे कि इतने समयमें मन, वाणी, शरीरसे मेरेद्वारा कितने और कौन-कौनसे दोष बने हैं और भविष्यमें दोष न बननेके लिये भगवान्‌के बलपर निश्चय करे तथा भगवान्‌से प्रार्थना करे कि वे ऐसा बल दें।

पुरुष-स्त्रीका स्वच्छन्द मिलन कदापि हितकर नहीं है

स्त्रीमें स्वाभाविक-सा आकर्षण है, जो पुरुषके चित्तको अपनी ओर खींचता है। यही आकर्षण जब निरन्तर प्रवचन, सत्सङ्ग आदिके प्रभावसे या अन्य किसी कारणवश बढ़ जाता है, तब सत्सङ्गका सदुद्देश्य भी सहसा नष्ट हुआ-सा दीखता है और वक्ताके चित्तमें दुर्वासनाओंका नग्न नृत्य आरम्भ हो जाता है। एक निश्चयहीन बुद्धि निर्बल होकर मनपर शासन करनेमें असमर्थ हो जाती है। फिर बुद्धिकी संरक्षकतासे वञ्चित और दुर्वासनाओंसे प्रताड़ित साधकके मनको इन्द्रियाँ सहज ही खींच लेती हैं। इसी प्रकार स्त्रियोंको भी पर-पुरुषोंसे सदा बचते रहना चाहिये। पुरुष-स्त्रीका स्वच्छन्द मिलन कदापि हितकर नहीं है। यह बात शास्त्र और अनुभव दोनोंसे सिद्ध है। फिर, जो आत्मकल्याणके साधनमें लगे हैं, उनको तो विशेषरूपसे सावधान रहना चाहिये।

भगवान् वराहकी प्रतीकात्मक उपासना

(लेखक—डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी०)

भारतीय पुराण-साहित्यमें भगवान् वराह और उनसे सम्बद्ध वराहपुराणका अप्रतिम महत्त्व है। आस्तिकजन तो यह मानकर कि भगवान् श्रीमन्नारायण आवश्यकता और परिस्थितिके अनुरूप रूप धारणकर लोक-हित सम्पादित करते हैं, परितोष कर लेते हैं; परंतु कुतर्की तथा भ्रान्त व्यक्ति उनके रहस्यसे पूर्णरूपेण परिचित न होनेके कारण उनके स्वरूपके सम्बन्धमें विषम दृष्टिकोण अपनाकर समाजमें विक्षोभ उत्पन्न करने तथा उसे भ्रमित करनेका भी अविवेकपूर्ण प्रयास करने लगते हैं।

'वराह अवतार क्या है, क्यों हुआ ?' इसपर विकासवादियोंका मत दूसरा ही है। वे कहते हैं कि सृष्टिके आरम्भमें केवल जल-ही-जल था, अतः पुराणोंमें प्रथम अवतारके रूपमें मत्स्यावतारका उल्लेख हुआ है। अर्थात् उस समय जलीय जीवके रूपमें ही भगवान् सृष्टिका हित साधन कर सकते थे, अतः उसी रूपमें अवतरित हुए और उसी रूपका उल्लेख पुराणोंमें हुआ है। इसके पश्चात् पृथ्वी—जलमग्न धरा कुछ-कुछ बाहर आने लगी तब जल और थलमें समान रूपसे कार्यशील रहनेवाले कच्छपके रूपमें भगवान्ने अवतार लेकर सृष्टिका हित-साधन किया। अवतारकी परम्परामें इसका दूसरा स्थान पुराणोंमें प्रतिपादित है। इसी विकासक्रममें वनके रचनाकालमें वन्यजीव वराहके रूपमें भगवान्‌के अवतारका उल्लेख हुआ है। वराहके रूपमें ग्राम्य सूकरसे उसकी समानता करते हुए कुछ व्यक्ति हमपर नाक-भौं भी सिकोड़ते और कहते हैं—'वाह ! क्या कहना है, तुम्हारे भगवान् और उनके आराधकोंका'।

किंतु सामान्य दृष्टिसे भी देखा जाय तो वन्य सूकर और ग्राम्य सूकरमें जमीन-आसमानका अन्तर होता है। तुण्ड और तनु ही नहीं दोनोंके पाँवों, चाल, गति और स्वभावमें भी पर्याप्त अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त ग्राम्य-सूकर जब कि सर्वथा भीरु प्राणी होता है, तो वन्य वराह सही अर्थोंमें शूर होता है। वह मुड़ना तो जानता ही नहीं, सम्मुख होकर आपत्तिका सामना करनेमें ही जीवनकी सार्थकता समझता है। जिस दिशासे इसपर प्रहार किया जाता है, उसी ओर तेजीसे बढ़कर वह आक्रामकको अपने अर्धचन्द्र-दन्त-भालोंका शिकार बनानेका प्रयास करता है। जलकी तीव्रतर धाराके सामने भी यह वक्र होकर अपनी असमर्थताका परिचय नहीं देना चाहता, उसे भी वह नाककी सीधमें ही काटता है। गन्ना इसका सर्वाधिक प्रिय आहार है। प्राणि-विज्ञानी जानते हैं कि सृष्टिमें यही एकमात्र ऐसा जीव होता है, जिसके शरीरपर त्वक् नहीं होता और मज्जा ही पर्तें बनाकर इसके चर्मका कार्य सम्पादित करती है। यही कारण है कि शिकारी इसके शरीरपर गर्म जल डालकर इसके रोमोंको दूर करनेमें सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

यह रूप तो है वन्य वराहका। हमारे प्रतिपाद्य वराहकी उपासनाका प्रतीकात्मक रूप क्या है ? इसके लिये श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्धके तेरहवें अध्यायका अनुशीलन किया जाय तो विदित होता है कि वह पूर्णतया सटीक है। श्रीमद्भागवतके अनुसार वराह-भगवान्‌के श्रीविग्रहको वेदत्रयी रूपमें प्रतिपादित किया गया है—

> जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन
> त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः।
> (३ । १३ । ३४)

इससे स्पष्ट विदित होता है कि सामान्य सूकर शरीरके लिये कथमपि वेदत्रयी अर्थात् प्रखर ज्ञानराशिकी उपमा नहीं दी जा सकती थी—यदि भागवतकार भगवान्‌के श्रीविग्रहको वस्तुतः सामान्य सूकरका ही मानते।

आगे चलकर उनके रोमकूपोंमें सम्पूर्ण यज्ञोंको लीन बताते हुए वराहको वस्तुतः वराह न मानकर इन्हें कारण-'सूकर' स्वीकार किया है—

यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरा-
स्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ॥
(श्रीमद्भा० ३ । १३ । ३४)

कारण-सूकरसे अभिप्रेत यह है कि भगवान्-का श्रीविग्रह आदिवराहका है । मायापति होनेके कारण देवकार्यसिद्ध्यर्थ वे समय-समयपर स्थितिके अनुकूल रूप धारणकर उसी प्रकार विश्वरङ्ग-मञ्चपर अवतरित होते हैं, जैसे कोई अभिनेता या जादूगर। उसका स्वरूप जैसे कार्यकालमें बदला हुआ होता है, वैसे ही भगवान्का भी होता है। इस बदले हुए रूपमें जैसे उसके मूल स्वरूपपर किसी प्रकारका आक्षेप लगाना न युक्तियुक्त होता है और न मूल स्वरूप उससे प्रभावित ही होता है; उसी प्रकार भगवान्के वराहरूपकी स्थिति जाननी चाहिये।

भगवान्के स्वरूपको पुराणकारने 'यज्ञरूप' कहा है और उसका दर्शन दुराचारियोंके लिये सर्वथा कठिन बतलाया है।

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां
दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम् ।
(श्रीमद्भा० ३ । १३ । ३५)

पुराणकार इस तथ्यसे भी परिचित थे—

वह ही दृश्य वही द्रष्टा,
वह ही सब नाट्य रचाता है ।
जब जैसी इच्छा होती है,
वह स्वयं वही हो जाता है ॥
(सूक्तिसुधा १ । १)

यह होते हुए भी उन्होंने इस सूकर-विग्रहकी प्रतीक उपासनारूपमें इसलिये उद्भावना की जिससे गूदड़ीमें लाल, कोयलेमें हीरेकी उक्तिको अन्वर्थक-रूपमें प्रस्तुत-कर चिन्तकोंको एक ऐसी चिन्तन-भूमि दी जाय जिसके द्वारा उनकी चिन्तनशक्तिको कुछ सोचने, मन्थन करनेका अवसर मिले और वे इससे भावोज्ज्वल नवनीत निर्माणकर इतरजनोंको परितोष दे सकें।

श्रीमद्भागवतके अनुसार भगवान् वराहका शरीर यज्ञरूप है। उनका त्वक् गायत्री आदि छन्दोंका आधान, रोमावली कुशरूप, उनके नेत्र घृतरूप तथा उनके चारों चरण होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मादि ऋत्विजोंके कर्मरूप बताये गये हैं।

छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोम-
स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥
(श्रीमद्भा० ३ । १३ । ३५)

इसका सीधा-सा भाव यही है कि पुराणकारने वेदोक्त 'यज्ञो वै विष्णुः'की भावनाको साकार करनेके लिये भगवान्को वराहरूपमें प्रस्तुत किया और यज्ञकी प्रमुख वस्तुओंका आकलन उसमें इस प्रकार किया कि उसके द्वारा वर्णित रूपकी भी रक्षा हो जाय और भगवान्के यज्ञीयस्वरूपकी भी।

इसके पश्चात् यज्ञीय उपकरणोंका आरोप भगवान् वराहके विभिन्न अङ्गोंमें करते हुए बताया गया है— 'भगवान् वराहकी थूथनी (मुखके अग्रभाग)में स्रुक्, नासिकाछिद्रोंमें स्रुवा, उदरमें इडा (यज्ञीय भक्षण-पात्र), कानोंमें चमस, मुखमें प्राशित्र (ब्रह्मभाग-पात्र) और कण्ठछिद्रमें ग्रह (सोमपात्र) है। भगवान्-का चर्वण ही अग्निहोत्र है—

स्रुक्तुण्ड आसीत् स्रुव ईश नासयो-
रिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते
यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ॥
(श्रीमद्भा० ३ । १३ । ३६)

मलिन योनिके जीव सूकरमें ऐसे पावनतम पदार्थों-का आरोप वस्तुतः इस दृष्टिसे किया गया है, जिससे सामान्यजन भी यज्ञकी महत्ता, पावनता तथा तदाधार-

भूत भगवान्की श्रेष्ठतासे परिचित होकर स्वार्जित सम्पत्ति-का भगवन्निमित्तक उपयोग करनेकी दिशामें अग्रसर हो सकें—यज्ञीय क्रिया-कलापमें रुचि ले सकें।

इसके पश्चात् भागवतकारने भगवान्के बार-बार अवतार लेनेको दीक्षा, ग्रीवाको उपसद (तीन इष्टियाँ), दोनों दाढ़ोंको प्रायणीय (दीक्षाके बादकी इष्टि) तथा उदयनीय (यज्ञसमाप्तिकी इष्टि), जिह्वाको प्रवर्ग्य (प्रत्येक उपसदके पूर्व किया जाने-वाला महावीर नामक कर्म), सिरको सभ्य (होम-रहित अग्नि) एवं आवसथ्य (औपासनाग्नि) तथा प्राणको चिति (इष्टिकाचयन) कहा है—

दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं
त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः
सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते॥
(श्रीमद्भा० ३ । १३ । ३७)

आगे चलकर वराह भगवान्के वीर्यको स्तोभ, आसन (बैठने)को प्रातःसवनादि, उनकी सप्त-धातुओंको अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम नामक सात संस्थाएँ तथा शरीरकी संधियोंको सम्पूर्ण सत्ररूपमें प्रदर्शित कर वराह भगवान्को सम्पूर्ण यज्ञ (सोमरहित याग) और क्रतु (सोमसहित याग) रूप प्रतिपादित किया है।

यज्ञानुष्ठानरूप इष्टियोंको मांसपेशी-संधानक रज्जु बताया गया है और कहा गया है—मन्त्र, देवता, द्रव्य-यज्ञ और कर्मयज्ञ वराहके ही स्वरूप हैं एवं वैराग्य, भक्ति और मनकी एकाग्रतासे जिस ज्ञानका अनुभव होता है, वही इन वराह भगवान्का वास्तविक स्वरूप है और उस स्वरूपके एकमात्र अधिष्ठान वराह भगवान् ही सबके विद्यागुरु हैं—

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः
संस्थाविभेदास्तव देव धातवः।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसंधि-
स्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः॥
नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-
द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० ३ । १३ । ३८-३९)

श्रीविष्णुपुराणमें भगवान् वराहके सम्बन्धमें कहा गया है—

त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वमग्नयः॥
त्वं वेदास्त्वं तदङ्गानि त्वं यज्ञपुरुषो हरे।
सूर्यादयो ग्रहास्तारा नक्षत्राण्यखिलं जगत्॥
(१ । ४ । २२-२३)

इसके अतिरिक्त यहाँ भगवान् वराहके चारों चरणोंमें चारों वेद, दाँतोंमें यज्ञ, मुखमें चितियाँ, जिह्वामें अग्नि, रोमावलीमें कुश, रात-दिनको उनका नेत्र, सबका आधारभूत परब्रह्म उनका सिर, सामस्वरको उनका गम्भीर शब्द प्रतिपादित किया गया है। (वि० १ । ४ । ३१–३५)

हरिवंशमें प्रणवको उनका मस्तक तथा वेदके छहों अङ्गोंको उनका कर्णाभरण बताया गया है तथा प्राग्वंश (यजमान-गृह) उनका शरीर, वायुको अन्तरात्मा, सोमरसको रक्त, हव्य-कव्यको तेज बताया गया है। हरिवंश—(मध्यम पर्व, अध्याय ३४; श्लोक ३४–४०)

समष्टि रूपमें वराह-चरित्रका मनन करनेपर यही विदित होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने 'यज्ञःकर्म-समुद्भवः' का जो संदेश गीता (३ । १०)के माध्यमसे दिया है, वही वस्तुतः अठारह पुराणोंमें वराहके प्रतीक रूपमें प्रतिपादित हुआ है। वराहके प्रतीक रूपमें यज्ञ, यज्ञीय प्रक्रिया, यज्ञके साधन-भूत अङ्ग और सामग्री तथा यज्ञफलके रूपमें स्वयं श्रीमन्नारायणकी उपलब्धि ही इस प्रतीकात्मक उपासनाका अभिप्रेतार्थ है।

अप्रत्यक्ष रूपमें उसके द्वारा शूर, साहसी और स्थिति-स्थापक बननेकी दिशामें मानवमात्रको प्रेरित किया गया है और बताया गया है कि इस धराकी स्थिरता यज्ञादिद्वारा तथा साहसद्वारा ही सम्भव है।

वैसे प्रभुकी अचिन्त्य लीलाके सम्बन्धमें यथावत् कुछ कहना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। अन्तमें हम केवल इतना ही कह सकते हैं—

स्थूल-सूक्ष्मके गति-क्रम से,
जब नित्य सूक्ष्म रह जाता है।
तब वही सर्व अप्रतिद्वन्द्वी,
निज-तन्त्र विष्णु कहलाता है॥

कब, कैसे, क्यों, किस लिये कहाँ,
वह होता एक अनेकों है।
कह सकता नहीं कभी कोई,
जानता वही, अपनेको है॥
बौद्धिक बलसे इस ईश्वरका,
जितना अनुभव कर सकते हैं।
स्थूल-सूक्ष्मके क्रमसे हम,
उतना ही उसे समझते हैं॥
वह जो चाहे कर सकता है,
वह जो चाहे हो सकता है।
अपनी खिचड़ीका पहुँच-तुल्य,
प्राणी अनुमोदन करता है॥

श्रीभगवतरसिकजी

श्रीभगवतरसिकजीका जन्म संवत् १७९५में सागर जिलेके गढ़कोटा स्थानमें हुआ था। ये श्रीस्वामी ललितकिशोरीजीके शिष्य श्रीस्वामी ललितमोहिनीदासजीके कृपापात्र शिष्य थे। ये श्रीविहारीजीके उपासक तथा स्वामी श्रीहरिदासजीके सम्प्रदायके संत थे।

कहते हैं कि भगवतरसिकजी पहले श्रीगणेशजीके उपासक थे। अपनी अनन्य निष्ठा और एकान्त उपासनासे इन्होंने गणेशजीको प्रत्यक्ष कर लिया था। श्रीगणेशजीने ही पहले इन्हें श्रीकृष्ण भगवान्‌की अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति 'सखीभाव'से करनेका उपदेश दिया और उसकी सिद्धिका वरदान भी दिया। यह बात इनके निम्नलिखित पदसे भी प्रकट होती है—

हमैं बर गुरु गनेस है दीनौं।
जल भरि सूँड फिराय सीसपर, संसकार सुभ कीनौं॥
दै प्रसाद परतीति बढ़ाई, दुख-दारिद सब छीनौं।
अपने पाँच रूप दरसाये, सुख उपजाइ नवीनौं॥
व्यापक पूज्य सखी आचारज अति ऐश्वर्य-प्रवीनौं।
लोक-बेद-भय-भर्म भगाये, ताप मिराये तीनौं॥
आनँदघनको पद दरसायो, दम्पति-रति-रस भीनौं।
भगवतरसिक लड़ैती-लालन, ललित भुजन भरि लीनौं॥

इनके अष्टाचार्योंमें सबसे अन्तिम श्रीललितमोहिनीदासजीके गोलोक सिधारनेपर भक्त महानुभावोंके अत्यन्त आग्रह करनेपर भी श्रीभगवतरसिकजीने गद्दीका अधिकार नहीं लिया और जन्मभर निर्लिप्त भावसे श्रीजीकी सेवामें लगे रहे। यथार्थ बात तो यह है कि ये महात्मा श्रीकृष्णभक्तिमें लीन एक प्रेमयोगी थे। इनके सम्प्रदायके बीसों महात्माओंने इनका विमल चरित्र गाया है। वे इनकी रचनाको अत्यन्त पूज्यभावसे देखते हैं और उसे 'वाणी' कहते हैं। उसका नित्य पाठ पाप-तापनिवारण एवं श्रीकृष्णसांनिध्यप्राप्तिका हेतु समझा जाता है। इन्होंने प्रेमतत्त्वका अनोखा निरूपण किया है। इनकी रचनाओंमें एक ओर तो वैराग्यका भाव भरा है और दूसरी ओर अनन्य प्रेमरस छलकता है। श्रीकृष्णभक्तिके सखी-सम्प्रदायके भक्त-प्रेमी भावुक महा-

कवियोंमें इनका आसन श्रेष्ठ है। इस प्रेमयोगी कविका हृदय प्रेमरससे सराबोर था। इन्होंने स्वयं लिखा है—

भगवतरसिक रसिककी बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना ।

इनके रचे हुए पाँच ग्रन्थ बतलाये जाते हैं—(१) अनन्यनिश्चयात्मक, (२) श्रीनित्यविहारीयुगल-ध्यान, (३) अनन्यरसिकाभरण, (४) निश्चयात्मक ग्रन्थ, उत्तरार्ध तथा (५) निर्बोध और मनोरञ्जन। इनकी रचनाओंका एक संग्रह ग्रन्थ 'भगवतरसिककी वाणी'के नामसे वर्तमान महंतने प्रकाशित किया है। श्रीभगवत-रसिकजी अपना परिचय इस प्रकार देते हैं—

नहिं हिंदू, नहिं तुरुक हम, नाहिं जैनी, अंगरेज ।
सुमन सम्हारत रहत नित कुंजबिहारी सेज ॥
आचारज ललिता सखी, 'रसिक' हमारी छाप ।
नित्यकिसोर-उपासना, जुगल मंत्रको जाप ॥

अपने उपास्यके विषयमें लिखते हैं—

नमो नमो बृंदाबनचंद ।
नित्य अनादि अनंत एकरस, पिय-प्यारी बिहरत स्वच्छंद ॥
सत्त-चित्त आनंदरूप घन, खग मृग द्रुम बेली बर बृंद ।
भगवतरसिक निरंतर सेवत, मधुप भये पीवत मकरंद ॥

श्रीवृन्दावनधामके सम्बन्धमें इनकी आस्था देखिये—

हमारैं श्रीबृंदाबन उर और ।
माया, काल तहाँ नहिं ब्यापै, जहाँ रसिक-सिरमौर ॥
छूट जात सत-असत बासना, मनकी दौरादौर ।
भगवतरसिक बतायौ श्रीगुरु अमल अलौकिक ठौर ॥

अपनी उपासनापद्धतिके विषयमें लिखते हैं—

कुंजन ते उठि प्रात गात जमुनामें धोवै ।
निधिबन करि दंडवत, बिहारीको मुख जोवै ॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल, रहित उपाधा ।
घर-घर लेय प्रसाद, लगै जब भोजन साधा ॥
संग करै भगवतरसिक, कर करवा, गूदरि गरे ।
बृंदाबन बिहरत फिरै, जुगलरूप नैनन भरे ॥

श्रीभगवतरसिकजीके मतानुसार संतके लक्षण इस प्रकार हैं—

इतने गुन जामें सो संत ।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत ॥
हरिको भजन, साधुकी सेवा, सर्ब भूतपर दाया ।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागै, बिष सम देखै माया ॥
सहनसील, आसय उदार अति, धीरजसहित बिबेकी ।
सत्य बचन सबको सुखदायक, गहि अनन्यब्रत एकी ॥
इंद्रीजित, अभिमान न जाके, करै जगत्को पावन ।
'भगवतरसिक' तासुकी संगति तीनहुँ ताप नसावन ॥

'रसिक'की परिभाषा कितनी सुन्दर है!—

जीव ईस मिलि दोय, नामरूप गुन परिहरैं ।
रसिक कहावै सोय, ज्यों जल घोरें सर्करा ॥
दिया कहै सब कोय, तेल-तूल-पावक मिलैं ।
तमहिं नसावै सोय, बस्तु मिलैं भगवतरसिक ॥

इन्होंने नीतिपरक भी बड़े ही सुन्दर तथा भावपूर्ण दोहा-छप्पय रचे हैं—

मायाको सब जग भजै, माधव भजै न कोय ।
जो कदापि माधव भजै, माया चेरी होय ॥
आये संग नहिं, सँग गये, मगमें भयो मिलाप ।
मोह-फाँस जग बँधि रह्यो, बिछुरैं करत बिलाप ॥
रुचि लै सुचि सेवा करै, सेवक कहिये सोय ।
तन-मन-धन अरपन करै, रहै अपुनपौ खोय ॥

प्रेमकी तल्लीनताकी दृष्टिसे इनके अनेक पद उत्कृष्ट हैं—

तुव मुख-कमल नयन अलि मेरे ।
पलक न लगत पलकु बिन देखे, अरबरात, अति फिरत न फेरे ॥
पान करत मकरंद रूप रस, भूल नहीं फिर इत-उत हेरे ।
भगवतरसिक भए मतवारे, घूमत रहत छके मद तेरे ॥

विश्वासकी विजय

(श्वेतमुनिपर शंकरकी कृपा)

'मृत्यु क्या कर सकती है ? मैंने मृत्युंजय शिवकी शरण ली है ।' श्वेतमुनिने पर्वतकी एकान्त कन्दरामें आत्मविश्वासका प्रकाश फैलाया । चारों ओर सात्त्विक पवित्रताका ही राज्य था, आश्रममें निराली शान्ति थी । मुनिकी तपस्यासे वातावरणकी दिव्यता बढ़ गयी ।

श्वेतमुनिकी आयु समाप्तिके अन्तिम श्वासपर थी । वे अभय होकर रुद्राध्यायका पाठ कर रहे थे, भगवान् त्र्यम्बकके स्तवनसे उनका रोम-रोम प्रतिध्वनित था ।

वे सहसा चौंक पड़े । उन्होंने अपने सामने एक विकराल आकृति देखी, उसका समस्त शरीर काला था और उसने अति भयंकर काला वस्त्र धारण कर रक्खा था ।

'ॐ नमः शिवाय' इस पवित्र मन्त्रका उच्चारण करते हुए श्वेतमुनिने अत्यन्त करुणभावसे शिवलिङ्गकी ओर देखा । उन्होंने उसका स्पर्श करके बड़े विश्वाससे अपरिचित आकृतिसे कहा—'तुमने हमारे आश्रमको अपवित्र करनेका दुःसाहस किस प्रकार किया ? यह तो भगवान् शिवके अनुग्रहसे अभय है ।' मुनिने पुनः शिवलिङ्गका स्पर्श किया ।

'अब आप धरतीपर नहीं रह सकते, अवधि पूरी हो गयी । आपको यमलोक चलना है ।' भयंकर आकृतिवाले कालने अपना परिचय दिया ।

'अधम, नीच, तुमने शिवकी भक्तिको चुनौती दी है ! जानते नहीं, भगवान् शंकर कालके भी काल—महाकाल हैं ।' श्वेतमुनिने शिवलिङ्गको अङ्कमें भरकर निर्भयताकी साँस ली ।

'शिवलिङ्ग निश्चेतन है, शक्तिशून्य है, पाषाणमें सर्वेश्वर महादेवकी कल्पना करना महान् भूल है, ब्राह्मण !'—कालने श्वेतमुनिको पाशमें बाँध लिया ।

'धिक्कार है तुम्हें, परम चिन्मय माहेश्वरलिङ्गकी शक्तिमत्ताकी निन्दा करनेवाले काल ! भगवान् उमापति कण-कणमें व्याप्त हैं । विश्वासपूर्वक आवाहन करनेपर वे भक्तकी रक्षा करते हैं ।' श्वेतमुनिने मृत्युकी भर्त्सना की ।

× × ×

'ठहरो, श्वेतमुनिकी बात सच है, हमारा प्राकट्य विश्वासके ही अधीन है ।' उमासहित भगवान् चन्द्रशेखर प्रकट हो गये । उनकी जटामें पतितपावनी गङ्गाका मनोरम रमण था, भुजाओंमें सर्पवलय और वक्षदेशमें साँपोंकी माला थी । भगवान्के गौर शरीरपर भस्मका शृङ्गार ऐसा लगता था मानो हिमालयके धवल शिखरपर श्याम घनका आन्दोलन हो । काल उनके प्रकट होते ही निष्प्राण हो गया । उसकी शक्ति निष्क्रिय हो गयी । श्वेतमुनिने भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया, वे भोलानाथकी स्तुति करने लगे ।

'आपकी लिङ्गोपासना धन्य है, भक्तराज ! विश्वासकी विजय तो होती ही है ।' शिवने मुनिकी पीठपर वरद हस्त रख दिया ।

नन्दीके आग्रहपर कालको प्राण-दान देकर भगवान् मृत्युंजय अन्तर्धान हो गये ।

(लिङ्गपुराण, अ० ३०)

अमृत-बिन्दु

मनुष्य धनके लोभसे पाप करता है। धन तो यहीं रह जाता है और पाप साथ चलता है।

× × ×

भगवान् गृहस्थता अथवा साधुताके अभिमानी-को नहीं मिलते। वे तो भक्तको मिलते हैं चाहे वह जो भी हो। ऐसा कोई दुःख नहीं, जिससे हमें लाभ न होता हो और ऐसा कोई (सांसारिक) सुख नहीं जिससे हानि न होती हो।

× × ×

संसारका आकर्षण 'राग', व्यक्तिका आकर्षण 'मोह', धनादिका आकर्षण 'लोभ' और भगवान्का आकर्षण 'प्रेम' कहलाता है।

× × ×

सांसारिक सुख-दुःखमें फँसकर हम ही भगवान्-से विमुख होते हैं जब कि भगवान् कभी भी हमसे विमुख होते ही नहीं।

हमें संसारमें सुख होनेका भ्रम हो गया है, इसीलिये हम इसमें फँसे हुए हैं।

× × ×

कामनापूर्ति हमारे जीवनका लक्ष्य नहीं है, क्योंकि कामनाएँ कभी पूर्ण नहीं होतीं; प्रत्युत इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर वे बढ़ती ही जाती हैं।

× × ×

'भोग' पशु-इन्द्रियोंका और 'परीक्षा' मनुष्य-इन्द्रियोंका कार्य है। परीक्षासे तात्पर्य है—प्रत्येक वस्तुके अच्छे-बुरेका ज्ञान करके, अच्छेके द्वारा सबकी सेवा और बुरेका त्याग करना।

× × ×

सत्-वस्तुका बोध होते ही उसकी प्राप्ति और असत्-वस्तुका बोध होते ही उसकी निवृत्ति हो जाती है।

× × ×

भगवत्प्राप्तिके लिये हुई व्याकुलता समस्त बाधाओंको दूर कर जीवको भगवान्के पास पहुँचा देती है।

× × ×

जो सत्सङ्ग नहीं करते हैं, ऐसे विद्वान् पुरुष भी सत्सङ्गके गूढ़ तत्त्वसे अनभिज्ञ रहते हैं।

× × ×

भगवान्के सम्मुख होनेपर हमारी सभी क्रियाएँ 'साधन' बन जाती हैं।

× × ×

हमें अपना समस्त भार भगवान्पर छोड़ देना चाहिये। इससे भगवान्को तो प्रसन्नता होगी और हम चिन्तासे मुक्त हो जायँगे।

× × ×

माया भगवान्की ही है, पर जब हम उसे अपनी मानकर सुख लेना चाहते हैं तब फँस जाते हैं।

× × ×

किसी वस्तुको ग्रहण करनेका हेतु 'राग' और त्यागनेका हेतु 'द्वेष' नहीं होना चाहिये। हमें तो शास्त्रको प्रमाण मानकर ही ग्रहण और त्याग करना है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

श्रीराम-नामके स्मरणमात्रसे प्राण-रक्षा

यह सत्य घटना विगत माह जनवरी, '७६ की है। मेरी पत्नीका स्वास्थ्य खराब चल रहा था। मैंने दिनाङ्क २९ जनवरी, '७६को उसे स्थानीय लेडी अस्पताल जबलपुरमें भर्ती कराया। पत्नीके स्वास्थ्य-परीक्षणके बाद प्रमुख चिकित्सकने बताया कि इनको ब्लडप्रेसर (रक्तचाप) की बीमारी है। मैं बहुत चिन्तित हुआ। डाक्टरोंद्वारा उपचार आरम्भ हुआ। दिनाङ्क ३१ जनवरीसे रक्तचाप ऊँचा हो गया। पत्नी अचेत हो गयी। पूरे शरीरमें सूजन चढ़ गयी। खाना-पीना सर्वथा बंद हो गया। चाय, दूध कुछ भी नहीं ले सकती थी। इसी बीच दिनाङ्क २–२–७६को अचेतावस्थामें ही गर्भपात हो गया। इससे स्थिति और बिगड़ गयी। उन्हें दर्जनों इन्जेक्शन और दवाइयाँ दी गयीं। पर कोई लाभ नहीं हुआ। पूरा शरीर इन्जेक्शनोंसे छिद गया। दिनाङ्क ३ फरवरीकी रात्रिमें ८ बजेसे ग्लूकोजकी बोतलों-पर-बोतलें चढ़ने लगीं। दिनाङ्क ३ फरवरीसे वह बेहोशीकी हालतमें अनाप-शनाप बोलने लगी। मेरी मानसिक स्थिति भी विकृत होने लगी। पत्नीके बेहोश होने, कुछ भी बक-झक करने तथा बिस्तरसे भागनेके कारण डाक्टरने मुझसे कहा—'जबतक ग्लूकोजकी बोतलें समाप्त न हो जायँ, तबतक आप रोगीको दबाये रखिये।

मैं ८ बजे रात्रिसे पत्नीका हाथ पकड़कर बैठ गया। जिस कमरेमें मेरी पत्नी थी, वहाँ केवल एक ही पलंग रखा गया था। वहाँ मेरे एवं बेहोश पत्नीके सिवा और कोई न था। पत्नीकी दशा पल-पल बिगड़ती जा रही थी। मैं सांसारिक चिंताओंमें डूब गया। छोटे-छोटे चार बच्चे हैं। उनका ध्यान आते ही मैं रो पड़ा! अचानक मेरे मनमें 'राम-नाम' स्मरणकी प्रेरणा जाग्रत् हुई। ग्लूकोजकी बोतलपर मैंने अश्रुपूरित दृष्टि गड़ायी। बोतलसे ग्लूकोजकी एक-एक बूँद टपकती। हर बूँदके टपकते ही मैंने रामनामका रट लगाना आरम्भ किया। बोतल खत्म होती और दूसरी पुनः लगा दी जाती। मैं बराबर बूँदके टपकनेके साथ ही अनवरत रामका नाम लेता रहा। रात्रिमें १२बजे ग्लूकोजकी बोतलें बंद करनेके लगभग पाँच मिनट बाद पत्नीने आँखें खोलीं। फिर कुछ चेतना आयी और पीनेके लिये पानी माँगा। डाक्टरकी सलाहसे पानी न देकर दूध, चाय दी गयी। ४ फरवरीसे पत्नीके स्वास्थ्यमें जादू-जैसा असर हुआ। भूखकी इच्छा हुई, बिना नमकका खाना देना शुरू हो गया। ११ फरवरीतक क्रमशः स्वास्थ्य लाभ कर पत्नी अस्पतालसे घर आ गयी।

मुझे पत्नीके जीवनकी किंचित् आशा न थी। यह सब मात्र दो अक्षर रामनामका ही प्रभाव था, कि उसकी प्राण-रक्षा हो गयी। मुझे विश्वास हुआ कि भगवान् हृदयकी सच्ची पुकार तत्काल सुनते हैं।

—नत्थूदासजी बैरागी

(२)

भगवत्कृपा या दैवीसंयोग ?

घटना अभी मई, '७७ की है। मुझे १० ता० को कुछ जरूरी कार्यसे सीधी जाना था। मैंने सुबह १० ता० को उठकर नित्यक्रियासे निवृत्त होकर पूजा सम्पन्न करके भोजन किया। पश्चात् मैं बसमें जाकर बैठ गया। बस सेमरियामें रुकी, जो कि मेरे गाँव—नौसासे चार-पाँच किलोमीटर दूर है। मैं गाड़ीमें बैठा ही था कि किसी अज्ञात शक्तिने मुझे गाड़ीसे नीचे उतरनेको विवश किया। मैं ज्यों‍ही गाड़ीके नीचे उतरा कि मेरे गाँवके एक सज्जन मिल गये। मैं उन्हींसे बातें करने लगा। इतनेमें ही बस अचानक चल

पड़ी। मैं आवाज लगाता रहा, परंतु ड्राइवरने एक न सुनी और देखते-ही-देखते बस आँखोंसे ओझल हो गयी। मैं अब सेमरियासे ही घर लौटनेके लिये तैयार हो ही रहा था कि तभी वहाँपर हल्ला हुआ कि शंकर बस आगे जाकर उलट गयी है। मैं यह सुनकर अवाक् रह गया और मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा। मैंने विचार किया कि भगवान्‌ने मेरी प्रार्थना सुन ली। क्योंकि मैं हमेशा भगवान्‌को प्रणाम करते समय यही प्रार्थना किया करता हूँ कि सबकी जान, मान, माल, मर्यादाकी रक्षा करनेवाले प्रभु, मैं आपकी शरण हूँ। मैं घर वापस आया और यह घटना जब मैंने अपने पिताजीको बतलायी तो पिताजी सुन करके चमत्कृत रह गये। उनके मुखसे सिर्फ इतना ही निकला कि प्रभु बहुत ही दयालु हैं, उनकी कृपालीलाको हम प्रायः समझते नहीं हैं।

—श्रीद्वारकाप्रसाद दुबे, बी० ए०

(३)

भरत-चरित्रसे रोग-नाश

घटना गत वर्ष १९७६की है। मेरा शरीर प्रायः रोगयुक्त रहता है; पर जैसा रोगाक्रमण उस वर्ष हुआ, वैसा पहले कभी न हुआ था। इसे अप्रत्याशित नहीं तो अभूतपूर्व तो कहा ही जायगा। अगस्त १९७६में दाँतोंके दर्द और मसूढ़ोंके सूजनके कारण मैं भोजन नहीं कर पा रहा था। वह कुछ ठीक हुआ तो सितम्बर मासमें पित्त-प्रकोपके कारण भोजन प्रायः दुष्कर हो गया। सदैव मिचली आती रहती। कार्य-व्यस्ततामें तो कमी नहीं हुई, पर शरीर दिन-प्रति-दिन दुर्बल होने लगा। अन्तमें १६ अक्टूबरकी रात्रिको मुझे शीत-ज्वर (Maleria) हो आया। ज्वर चढ़नेके समय तापमान १०३ डिग्रीसे भी ऊपर था। मैं प्रायः संज्ञा-शून्य पड़ा रहा। दूसरे दिनसे ओषधि ग्रहण प्रारम्भ किया, पर बुखार १०१से १०३के मध्य ही रहता था। यूनानी, एलोपैथिक इत्यादि सभी पद्धतियाँ निष्फल सिद्ध हो रही थीं। सारे शरीरमें असह्य पीड़ा, प्यास और जलन रहती थी। बुखार धीरे-धीरे सान्निपात (टायफाइड) ज्वरकी ओर बढ़ रहा था। कष्ट पूर्ववत् बना रहनेके और निरन्तर उपवासके कारण शरीर क्षीण हो गया था। परिवारके लोग और सुहृज्जन चिन्तित रहने लगे। मेरे परिवारकी मान्यता है कि कष्टके समय प्रभु-स्मरणसे कष्ट समाप्त हो जाते हैं और मेरे परिवारमें नियमित हनुमदुपासना, श्रीरामचरितमानस-पाठ इत्यादि होता रहता है। पर इस आकस्मिक संकटके कारण जैसे सब विस्मृतप्रायः हो रहा था। किंतु धन्य हैं वे कृपासिन्धु सच्चिदानन्द भगवान्। उन्होंने ही अपनी कृपासे पुनःस्मरण कराया कि **'भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान'॥** (रामच० मा० ७ । १२१ ख) इसके स्मरण आते ही पूर्ववत् अर्चना प्रारम्भ हो गयी। मेरे ज्येष्ठ अग्रज डा० अञ्जनीनन्दन वर्मा 'तरुण' साहित्यरत्नने प्रत्येक दिन श्रीरामचरितमानसके अन्तर्गत वर्णित श्रीभरत-चरित्रके पाठका बीड़ा उठाया और नित्य सायंकाल उक्त पवित्र प्रसङ्गका मेरे पास बैठकर वे पाठ करने लगे। चमत्कार ही हो गया। घूम गया काल-चक्र। पाठकी समाप्ति होते-होते कष्ट कर्पूरके समान अदृश्य (समाप्त) हो गया अर्थात् पठनके प्रारम्भ करनेके पाँचवें दिन रोग-नाश। उस समय ओषधिके क्षेत्रमें होमियोपैथिक उपचार हो रहा था। पर मूल श्रेय श्रीभरतचरित्रको ही है। इसे हम सबका अन्तःकरण स्वीकार करता है।

—श्रीअश्विनीकुमार श्रीवास्तव 'अनल'

(४)

हनुमान्‌चालीसाके पाठकी महिमा

बात मङ्गलवार २९-६-७६की है। मैं पी-एच्० डी०के लिये अपनी थीसिस विश्वविद्यालयमें ८-१२-७५ को ही जमा कर चुका था। थीसिस जमा करनेके बाद

परीक्षककी रिपोर्टकी प्रतीक्षा करते-करते छः महीने व्यतीत हो गये, किंतु तीन परीक्षकोंमेंसे एककी रिपोर्टकी प्रतीक्षा बनी ही रह गयी। इस स्थितिमें मन काफी चिन्तित हो गया, क्योंकि इससे पहले भी केवल एक ही रिपोर्टके कारण मेरे पी-एच्०डी० के परीक्षा-फलमें कठिनाई उत्पन्न हो गयी थी और उसके चलते मुझे काफी परेशानी उठानी पड़ी। अतः चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। इस विषम-परिस्थितिमें मेरे परिवारके सभी सदस्योंने हनुमान्जीकी महिमाका स्मरणकर 'हनुमान्चालीसा'का पाठ करना प्रारम्भ कर दिया। इसी बीच वह बाकी रिपोर्ट भी आ गयी। अब मौखिक परीक्षाकी चिन्ता हो गयी; क्योंकि इस प्रक्रियासे गुजरनेके बाद ही लोग पी-एच०डी० की परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ करते हैं। इसके बाद फिर एक दूसरी समस्या उत्पन्न हो गयी, वह यह कि मौखिक परीक्षाके दिनके निश्चित होनेमें व्यवधान उपस्थित हो रहा था। मेरे परिवारके सभी सदस्य उद्विग्न हो गये। इसी क्रममें फिर मङ्गलवारका दिन आ गया। समस्याके समाधानमें व्यवधानका अनुमान कर मङ्गलवार २९-६-७६ को मेरी धर्मपत्नी पासहीके हनुमान-मन्दिरमें १०८ बार 'हनुमान्चालीसा'के पाठ करनेका संकल्प लेकर चली गयीं। उनका पाठ समाप्त हुआ और संयोगवश उसी दिन मौखिक परीक्षाके लिये ३-७-७६ की तिथि निश्चित हो गयी और अनेक व्यवधान उपस्थित होनेके बावजूद मौखिक परीक्षा सकुशल सम्पन्न हो गयी। मौखिक परीक्षाके बाद जब ७-७-७६ को हमलोग सत्यनारायण भगवान्की पूजामें संलग्न थे, उसी दिन परीक्षा-फल भी सामने आ गया। इस तरह मैंने अपने अभिलषित लक्ष्यकी पूर्ति (पी-एच्०डी०की डिग्रीकी प्राप्ति) बजरंगबली एवं भगवान् सत्यनारायणकी अनुकम्पासे ही प्राप्त की।

—डॉ० शत्रुघ्नजी मिश्र

श्रीभगवन्नामजपकी शुभ सूचना

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

'कल्याण'के सभी पाठक-पाठिकाएँ इस बातसे सुपरिचित हैं कि प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमासे चैत्र पूर्णिमातक अर्थात् पाँच महीनेकी अवधिमें बीस करोड़ षोडश-नाम महामन्त्र–'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' के जपकी प्रार्थना की जाती है और तदनुसार देश-विदेशोंमें हजारों व्यक्ति नाम-जप करते हैं एवं उसकी सूचना हमें भेजते हैं। हम यह सूचित करते हुए हर्षका अनुभव करते हैं कि गतवर्ष अर्थात् कार्तिक पूर्णिमा सं० २०३३ वि० से चैत्र शुक्ल पूर्णिमा सं० २०३४ वि० तक जप-संख्या बीस करोड़के स्थानपर २१ करोड़से भी अधिक (लगभग २२ करोड़) हुई है। यह 'कल्याण' के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंकी भगवन्नाम-जपके प्रति विशेष प्रीतिका परिचायक है। हम उन सभीके अत्यन्त आभारी हैं। सचमुच वे धन्य हैं, भाग्यशाली हैं जो भगवन्नाम-जप करते हैं तथा करनेके लिये दूसरोंको प्रेरणा देते हैं। नाम भगवान्का स्वरूप है। नामका आश्रय भगवान्का ही आश्रय है, फिर इस कलिकालमें तो एकमात्र भगवन्नामके सिवा अन्य कोई गति है ही नहीं। निदान, जो भी भगवान्के नामका आश्रय ग्रहण करते हैं, उनपर भगवान्की विशेष कृपा-वृष्टि होती ही है।

गत वर्ष जिन स्थानोंपर नाम-जप होनेकी सूचनाएँ हमारे यहाँ अङ्कित हुई हैं, उन स्थानोंके नाम आगामी अङ्कमें प्रकाशित किये जा सकते हैं।

संयोजक—नाम-जप-विभाग,
द्वारा—'कल्याण' सम्पादकीय विभाग,
पत्रालय—गीताप्रेस (गोरखपुर)

भाद्रपदके व्रतोत्सव और जन्माष्टमी-व्रतकी महिमा

सम्पूर्ण भाद्रपदमें 'दधि-त्याग' व्रत तथा कृष्णपक्षकी तिथियोंमें अशून्यशयन-द्वितीया, बहुला चतुर्थी, हलषष्ठी, भानुसप्तमी, जन्माष्टमी, जया एकादशी, कुशोत्पाटिनी अमावस्या एवं शुक्ल पक्षमें वराह जयन्ती, सामवेदियोंका उपाकर्म, हरितालिका, ऋषिपञ्चमी, लोलार्कषष्ठी, अपराजिता सप्तमी, राधाष्टमी, दशावतार दशमी, पद्मा एकादशी और अनन्त-चतुर्दशी आदि मुख्य व्रतोत्सव हैं। इनमें भी जन्माष्टमी सर्वाधिक मुख्य है। यह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मतिथि है। इस व्रतकी महिमामें कहा गया है कि जिस राज्य या देशमें विधिपूर्वक जन्माष्टमीव्रत मनाया जाता है तथा यन्त्रादिसहित वस्त्र या ताम्रादि पटोंपर चित्र एवं अलंकार रचनापूर्वक सभी उपचारोंसे देवकीसहित भगवान् कृष्णकी पूजा होती है, वहाँ पर-चक्रभय (अन्यराष्ट्र या राज्यसे आक्रमणका भय), अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ईति (शलभ-मूषकादि) भय नहीं होता और मेघ यथेच्छ वृष्टि करते हैं—

परचक्रभयं तत्र न कदापि भवेत् पुनः। पर्जन्यः कामवर्षी स्यादीतिभ्यो न भयं भवेत् ॥

(भविष्यपुराण, जन्माष्टमीव्रतमाहा० ७६-७७)

व्यक्तिगत व्रत-पूजा करनेवालोंके घरोंमें भी रोगादि उपसर्ग नहीं होते; पशु, पाप, व्याल, नकुल, चोर, राजादिका भी भय नहीं होता—

गृहे वा पूज्यते यत्र देवक्याश्चरितं मम। तत्र सर्वं समृद्धं स्यान्नोपसर्गादिकं क्वचित् ॥

पशुभ्यो नकुलाद् व्यालात् पापरोगाच्च पातकात्। राजतश्चोरतो वापि न कदाचिद् भयं भवेत् ॥ (वही ७७-७८)

इतना ही नहीं, उसे अतुल सौभाग्य, पुत्र-पौत्रादिकी प्राप्ति, धर्म-प्रेम, ज्ञान एवं परमश्रेष्ठ गति भी प्राप्त होती है—

जन्माष्टमीं जनमनोनयनाभिरामां पापापहां सपदि नन्दितगोपगोपाम्।

यो देवकीं सुतयुतां च यजेद्धि भक्त्या पुत्रानवाप्य समुपैति पदं स विष्णोः ॥

(वही ७२-७३ तथा ८०)

इस व्रतके आचरणसे सत्यजित् आदि अनेक राजाओंका प्रेतयोनि आदिके क्लेशोंसे उद्धार हुआ है। व्रतके दिन उपवास रहकर सपरिकर भगवान्‌की पाद्य, अर्घ्य, स्नान, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि षोडशोपचारयुक्त पूजा करनी चाहिये तथा रात्रिजागरण, स्तुति कथा-कीर्तन एवं उत्सवकर दूसरे दिन प्रातः भगवान् श्रीकृष्णके द्वादशाक्षर वासुदेव मन्त्रकी आहुतियोंसे हवन एवं पूर्णाहुति कर पारणा करनी चाहिये।

साधक संघ

[नम्र निवेदन]

साधक-संघके सभी सदस्य महानुभावोंसे विनम्र निवेदन है कि एक बार सदस्य बन जानेपर उन्हें द्वारा अपनी 'साधक दैनंदिनी' निश्चित समयपर मँगवा लेनी चाहिये। दैनंदिनी मँगवानेका निश्चित समय नवम्बर, दिसम्बर मास रक्खे गये हैं। पुराने सभी सदस्योंको प्रतिवर्ष इन दो महीनोंमें किसी भी समय नयी 'दैनंदिनी' मँगवाकर पुरानी (भरी हुई) दैनंदिनी जनवरीके पश्चात् यहाँ निरीक्षणार्थ भेज देनी चाहिये। परंतु नवीन सदस्य महानुभाव मात्र ४५ पैसे भेजकर वर्षके किसी भी महीनेमें दैनंदिनी मँगवा सकते हैं। नये-पुराने सभी सदस्योंसे निवेदन है कि उन्हें त्रैमासिक नियम-पालनकी सूचना भी यथासमय अवश्य भेजनी चाहिये। यदि किसी विशेष कारणसे कोई सदस्य न रहना चाहते हों तो कृपया उन्हें इसकी सूचना शीघ्र ही संघको दे देनी चाहिये, जिससे उनको सदस्य-संख्या निरस्त करके नवागन्तुक सदस्यको दी जा सके।

संयोजक—'साधक-संघ',

पो०—गीताप्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

भगवान् श्रीकृष्णकी देवताओंद्वारा स्तुति

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥
शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥
दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः ।
दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ॥
न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे ।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥
मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥

(श्रीमद्भा० १० । २ । २६, ३६–४०)

'प्रभो ! आप सत्यसंकल्प हैं । सत्य ही आपकी प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है । सृष्टिके पूर्व, प्रलयके पश्चात् और संसारकी स्थितिके समय—इन असत्य अवस्थाओंमें भी आप सत्य हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच दृश्यमान सत्योंके आप ही कारण हैं और उनमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान भी हैं । आप इस दृश्यमान जगत्में परमार्थ सत्स्वरूप हैं । आप ही मधुर वाणी और समदर्शनके प्रवर्तक हैं । भगवन् ! आप तो बस ! सत्यस्वरूप ही हैं । हम सब आपकी शरणमें आये हैं । भगवन् ! मन और वेदवाणीके द्वारा केवल आपके सत्स्वरूपका अनुमानमात्र होता है; क्योंकि आप उनके द्वारा दृश्य नहीं, उनके साक्षी हैं । इसलिये आपके गुण, जन्म और कर्म आदिके द्वारा आपके नाम और रूपका निरूपण नहीं किया जा सकता । फिर भी प्रभो ! आपके भक्तजन उपासना आदि क्रियायोगोंके द्वारा आपका साक्षात्कार तो करते ही हैं । जो पुरुष आपके मङ्गलमय नामों और रूपोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता है और आपके चरणकमलोंकी सेवामें ही अपना चित्त लगाये रहता है—उसे फिर जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें नहीं आना पड़ता । सम्पूर्ण दुःखोंके हरनेवाले भगवन् ! आप सर्वेश्वर हैं । यह पृथ्वी तो आपका चरणकमल ही है । आपके इस (कृष्ण) अवतारसे इसका भार दूर हो गया । धन्य है ! प्रभो ! हमारे लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि हमलोग आपके सुन्दर-सुन्दर चिह्नोंसे युक्त चरणकमलोंके द्वारा विभूषित पृथ्वीको देखेंगे और स्वर्गलोकको भी आपकी कृपासे कृतार्थ देखेंगे । प्रभो ! आप अजन्मा हैं । यदि आपके जन्मके कारणके सम्बन्धमें हम कोई तर्कना करें, तो यही कह सकते हैं कि यह आपका एक लीला-विनोद है । ऐसा कहनेका कारण यह है कि आप तो द्वैतके लेशसे रहित सर्वाधिष्ठानस्वरूप हैं और इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय अज्ञानके द्वारा आपमें आरोपित हैं । प्रभो ! आपने जैसे अनेक बार मत्स्य, हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राम, परशुराम और वामन अवतार धारण करके हमलोगोंकी और तीनों लोकोंकी रक्षा की है—वैसे ही आप इस बार भी पृथ्वीका भार हरण कीजिये । यदुनन्दन ! हम (सभी देवता) आपके चरणोंमें वन्दना करते हैं ।'